

सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

बारहवा भाग

(मोक्षाधिकार - गाथा 288-307)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,
इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'समयसार प्रवचन बारहवां भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

Contents

गाथा २८८	6
गाथा २८९	Error! Bookmark not defined.
गाथा २९०	7
गाथा २९१	11
गाथा २९२	14
गाथा २९३	19
गाथा २९४	23
गाथा २९६	37
गाथा २९७	41
गाथा २९८	54
गाथा २९९	62
गाथा ३००	70
गाथा ३०१	75
गाथा ३०२	75
गाथा ३०३	76
गाथा ३०४	80
गाथा ३०५	80
गाथा ३०६	88
गाथा ३०७	Error! Bookmark not defined.

समयसार प्रवचन बारहवां भाग

(मोक्षाधिकार)

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी (सहजानन्द) महाराज

आत्मरंगभूमि में भेषपरिवर्तन—शुद्ध ज्ञानज्योति का उदय होने से बंध के भेष से ये कर्म दूर हो गए हैं, अथवा बंध के भेष से यह आत्मा दूर हो गया है अब इसके बाद मोक्ष तत्त्व का प्रवेश होता है । आत्मा अनादि अनन्त अहेतुक भ्रुव पदार्थ है । आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये ५ जीव के स्वांग हैं । इनमें से कुछ स्वांग तो हेय हैं, कुछ उपादेय हैं, और मोक्ष का तत्त्व सर्वथा उपादेय है । यह जीव गत अधिकार में बंध तत्त्व के स्वांग से अलग हो चुका है । अब मोक्षतत्त्व के भेष में इसका प्रवेश होता है । जैसे नृत्य के अखड़े में स्वांग प्रवेश करता है, इसी प्रकार यह ज्ञान पात्र अब मोक्ष तत्त्व में प्रवेश करता है ।

ज्ञान का ज्ञानत्व—यह ज्ञान समस्त स्वांगों को जानने वाला है । मोक्षतत्त्व के सम्बंध में भी इस जीव का किस प्रकार से सम्यग्ज्ञान चल रहा है इसको मुक्ति पाने के उपदेश से देखें? यह सज्जानज्योति प्रज्ञारूपी करोंत के चलने से बंध और पुरुष को पृथक् कर देती है, जैसे एक बड़े काठ को बढ़ई करोंत चलाकर उसके दो अंश कर देता है, वे दो भिन्न-भिन्न अंश में हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रज्ञारूपी करोंत चलाकर कर्म और आत्मा का जो एक पिंड था उस पिंड को अलग-अलग कर दिया ।

सीमा की पृथक्त्वकारणता—मैया ! वस्तुओं को अलग-अलग करने का कारण सीमा होती है, जैसे कोई एक बड़ा खेत है, दो भाइयों में सम्मिलित है, दोनों भाई अलग-अलग होते, हैं तो उस खेत के दो टुकड़े किये जाते हैं । उस टुकड़े का विभाग सीमा करते हैं, बीच में एक मेड़ डाल देते हैं या कोई निशान बना देते हैं । उस सीमा से उसके दो भाग हो जाते हैं । इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा ये दो मिले हुए पिण्ड हैं । इनको अलग करना है तो उनकी सीमा परखिये । इस आत्मा की सीमा है समता अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना । तो जितना यह समता का परिणाम है, ज्ञाता द्रष्टा रहने की वृत्ति है उतना तो है यह आत्मा और जितना समता से दूर परभावों रूप परिणाम है अथवा असमता है, अज्ञान है वह है अनात्मतत्त्व ।

प्रज्ञा छैनी से द्वेषीकरण—अब प्रज्ञारूपी छैनी से अथवा करोंत से इन दोनों को स्पष्ट अलग कर देना है । एक ज्ञानानन्दस्वरूप वृत्ति वाला यह मैं आत्मा हूँ और प्रकट अचेतन ये देहादिक अनात्मा हैं, और पर का आश्रय पाकर, कर्मोदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले जो रागादिक विकार हैं ये सब अनात्मा हैं । अनात्माओं को त्यागकर अपने आपके ज्ञायक स्वरूप में प्रवेश करना सो मोक्ष का मार्ग है, यों यह ज्ञान बंध और आत्मा को पृथक् कराकर मोक्ष को प्राप्त कराता हुआ जयवंत प्रवर्त रहा है । वह पुरुष अपने स्वरूप के साक्षात् अनुभव कर लेने के कारण निःशंक, निश्चिन्त, निश्चित निर्णयवान है । जब अपने आपके ज्ञायक स्वरूप का ज्ञान होता है तब यह निश्चय हो जाता है कि मैं तो स्वभाव से ही आनन्द स्वरूप हूँ, मुझमें क्लेश कहां है, क्लेश तो कल्पना करके, विचार करके बनाया जाता है । सो यह जीव उद्घम करके, कल्पना करके, श्रम करके अपने को दुःखी करता है । स्वभावतः तो यह आनन्दस्वरूप ही है ।

आत्मग्रहण के लिए अनात्मत्याग—भैया ! यदि कोई पुरुष अपने आपके यथार्थ चिंतन में दृढ़ हो जाये तो उसको कहीं क्लेश नहीं है, किन्तु ऐसा होने के लिए बड़ी त्याग की आवश्यकता है। इन अनन्त जीव में से घर के तीन चार जीवों को यह मान लेना कि ये मेरे हैं यह मिथ्या कल्पना ही तो है। इस कल्पना का परित्याग करना होगा। जब तक अज्ञान अवस्था रहती है इस मिथ्या कल्पना के त्याग में बड़ी कठिनाई महसूस होती है। कैसे त्यागा जाये ? जब ज्ञान ज्योति का उदय होता है तब ये मेरे हैं ऐसा मानना कठिन हो जाता है। जैसे अज्ञान में ममता को दूर करना कठिन है इसी प्रकार ज्ञान में ममता का उत्पन्न करना कठिन है। जब यह ज्ञानी यह निर्णय कर लेता है कि मैं आत्मा स्वतः आनन्दस्वरूप हूँ, जो मेरे में है वह है, जो नहीं है वह त्रिकाल आ नहीं सकता। ऐसा स्वतन्त्र असाधारण स्वरूपमय अपने आत्मा का अनुभव कर लेता है उस समय यह इस प्रकार विजयी होता हुआ प्रवर्तता है प्रसन्न, निराला होता हुआ विहार करता है। हमारे करने योग्य कार्य हमने कर डाला, अब हमारे करने को शेष कुछ नहीं रहा। इस प्रकार सहज परम आनन्द से भरपूर होता हुआ वह ज्ञानमात्र होकर अब जयवंत होता हुआ विहार कर रहा है।

प्रतीति के अनुसार निर्माण—यदि इस आत्मा का झुकाव आत्मस्वभाव की ओर है, अपने एकत्व को परखने की ओर है तो इसको रंच क्लेश नहीं होता। और, बाहर में चाहे किसी को मेरे प्रति बहुत आदर हो और सुहावना वातावरण हो, लेकिन यह आत्मा जब यह कल्पना कर बैठता है कि यह तो मेरे विरुद्ध है इसका मेरी ओर आकर्षण नहीं है ऐसी बुद्धि जब उत्पन्न हो जाती है तो यह मन ही मन में संक्षिप्त होता रहता है, यह सब अपने भावों का ही खेल है। हम अपने ही परिणाम से संसारी बनते हैं और अपने ही परिणाम से मुक्त हो जाते हैं। मुझे दुःखी करने वाला इस लोक में कोई दूसरा नहीं है। मैं ही विचारधारा वस्तुस्वरूप के प्रतिकूल बनाता हूँ, अपने आत्मतत्त्व के प्रतिकूल बनाता हूँ तो यह मैं ही दुःखी हो जाता हूँ। जब मैं अपनी ज्ञानधारा को वस्तुस्वरूप के अनुकूल बनाता हूँ, आत्मस्वभाव के अनुकूल बनाता हूँ तब इस मुझमें आनन्द भरपूर हो जाता है।

महापुरुषों के जीवन की तीन स्थितियां—इस समय यह ज्ञान मुख्य पात्र जो कि उदार है, गम्भीर है, धीर है, जिसका अभ्युदय महान् है, ऐसा यह ज्ञान अब मोक्ष के रूप में प्रकट होता है। यह जीव और कर्म के अन्तर्युद्ध का अन्तिम परिणामरूप अधिकार है। जैसे नाटक में मुख्य पात्रों की पहिले कुछ अच्छी अवस्था बतायी जाती है। फिर बहुत लम्बे प्रकरण तक दुःख, उपसर्ग विपत्ति, बाधा बतायी जाती है और फिर अंत में विपत्ति से छुटकारा कराकर कुछ आनन्दरूप स्थिति बतायी जाती है। इसके बाद नाटक समाप्त किया जाता है। जितने भी नाटक लिखे जाते हैं या जितने भी पुराण पुरुषों के चरित्र हैं उनमें यही ढंग पाया जाता है। बीच का काल विपत्ति में बताकर अन्त में विपत्ति से छुटकारा बतायेंगे। कोई सा भी नाटक ले लो उसमें यह पद्धति मिलेगी।

पात्रों की तीन स्थितियों के कुछ उदाहरण—जैसे सत्यवादी राजा हरिशचन्द्र नाटक में ये तीन बातें बतायी हैं। पहिले वे सुख सम्पन्न थे, मध्य में उन पर कितनी विपत्तियां आयीं, उन विपत्तियों में अपना विवेक रखा जिसके प्रताप से अन्त में फिर विजयी हुए। श्रीपाल नाटक भी देख लो। पहिले कैसा राज्य

वैभव बताया, मध्य में कुष्ठी होने आदि के कितने दुःख बताये और अन्त में सुख मिला, राज्याधिकारी हुए और विरक्त होकर साधु हुए। मैना सुन्दरी का नाटक देखो—प्रथम कैसा सुख बताया मध्य में कितने क्लेश बताये। जान बूझकर उसके पिता ने दरिद्र, कुष्ठी, कुरुप वर को ढूँढ़ा था, भला कौन उसे दयावान कह सकेगा जो अपनी लड़की के लिए दरिद्र, असहाय, खाने का जिसके ठिकाना नहीं, ऐसा वर ढूँढ़े। उसे तो लड़की का बैरी कहेंगे। कितना कष्टमय जीवन बिताया और अंत में फिर उसने कैसा चमत्कार दिखाया। तो नाटक में कथानक में इस तरह प्रायः तीन दशाओं की बातें चलती हैं।

आत्मविवरण में तीन स्थितिया—इसी प्रकार यह आत्मा का जो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश हो रहा नाटक है, उस नाटक के वर्णन में प्रथम तो आत्मा का स्वरूप दिखाया। यह आत्मा एकत्व विभक्त है, शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है। इसमें न विकार का दोष है, न गुणभेद का दोष है। यह तो जो है सो ही है, इसका यथार्थ स्वरूप बताकर फिर इसकी विपत्तिया दिखायेंगे। यह भूल गया अपने को, सो आस्रव और बंध की लपेटों में यह नाना कल्पनाएं करके दुःखी होता है। आस्रव और बंध के प्रकरण में यद्यपि आध्यात्मिक ग्रन्थ होने से भेदविज्ञान की शैली से सब दिखाया, किन्तु यहाँ विपत्तिया और उपर्सर्ग जो इस पर पड़ते हैं वे सब दिखाये गये हैं। वहाँ उसने विवेक किया, भेदविज्ञान किया, साहस बढ़ाया। जिसके प्रताप से भेद को हटाकर निज अभेद में आया, अपना प्रसाद पाया। निर्मलता बढ़ी और अब यह मोक्ष तत्त्व में प्रवेश करने वाला हुआ।

यह इस अधिकार का मंगलमय वचन है कि यह ज्ञान ज्योति बंध को और आत्मा को पृथक् करके आत्मा को बंध से मुक्त कराता हुआ अपना सम्पूर्ण तेज प्रकट करके सर्वोत्कृष्ट कृतकृत्य होता हुआ जयवंत प्रवर्तने वाला है। इस मोक्ष अधिकार में सर्व प्रथम दृष्टान्तपूर्वक यह बतायेंगे कि जिससे बन्ध होता है, यह जीव उसका छेद करने से मुक्त हो जाता है।

गाथा २८८-२८९

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।

तिब्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥

जह णवि कुणइच्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।

कालेण य बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥

बन्धन के ज्ञान मात्र से छुटकारा का अभाव—जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बंधन में बंधा हुआ है वह पुरुष उस बन्धन के तीव्र मंद स्वभाव को भी जानता है और उसके सम्बन्ध को भी जानता है। फिर भी उसके जानने से बन्ध नहीं कटते हैं और यह बंधन में बंधा हुआ ही रहता है। उससे छूटता नहीं है। जैसे किसी पुरुष को एक वर्ष का कारावास का दंड दिया गया और लोहे की बेड़ी पहनाकर जेल में रख दिया। वह पुरुष जान रहा है कि यह लोहे की बेड़ी है, इसको बांधे हुए है, यह कठोर है, कड़ा बंधन है। एक वर्ष के लिए यह बंधन है। इतना सब कुछ जानकर भी क्या वह उस बंधन से मुक्त हो जाता है?

ज्ञान के अमल से मुक्ति—यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि ज्ञान मात्र से मोक्ष नहीं होता, किन्तु ज्ञान करके इस ज्ञान पर अमल करने से उसके अनुसार भावना बनाने से तद्रूप परिणमन करने से मोक्ष होता है। कारागार में रहते हुए भी किसी कैदी का बरताव भला हो जाये और उसकी प्रकृति सुधर जाये तो उस कारागार की स्थिति में भी उसे सहूलियत मिलती है और उसकी अवधि कम कर दी जाती है। जो जानता है कारागार से छूटने का उपाय, उस पर अमल करने से छूट पाता है।

दृष्टान्तपूर्वक दार्ढान्त का वर्णन—जैसे वह कारागारवासी बंधनबद्ध पुरुष चिरकाल से बंधन में बंधा हुआ है उस बंधन के तीव्र मंद स्वभाव को जानता है, और उससे छूटने की कला को भी जानता है, पर यदि वह बंधन के छेद को नहीं करता, नहीं काटता तो वह छूटता नहीं है। बंधन के वश होता हुआ बहुत काल तक भी वह मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। जैसे इस दृष्टान्त में यह बताया है कि केवल बंध के स्वरूप के ज्ञान से इस कैदी को मुक्ति नहीं होती है इसी तरह इस आत्मा को भी मात्र बंध के स्वरूप के ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है। इस बात को इस गाथा में कह रहे हैं।

गाथा २९०

इय कम्मबंधणाणं पएसठिङ्पयडिमेवमणुभागं ।

जाणंतो वि ण मुच्छ मुच्छ सो चेव जङ्घ सुद्धो ॥२९०॥

बंधस्वरूप के ज्ञान मात्र से मुक्ति का अभाव—कोई जो पुरुष कर्मों को बंधन की प्रकृति को, स्थिति को, प्रदेश को, अनुभाग को यद्यपि ज्ञान भी रहा है तो भी यदि वह शुद्ध होता है, रागादिक को दूर कर निर्मल ज्ञानस्वभाव का अनुभवन करता है तो वह मुक्त होता है। केवल बंधों के स्वरूप के ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है। किसी का पर से बंधन होता है तो वहाँ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार उसके रूपक बनते ही हैं।

बन्धन में चतुर्विधता का एक दृष्टान्त—जैसे हाथों को रस्सी से जकड़ दिया तो वहाँ रस्सी के प्रदेश हाथों के प्रदेश ऐसे प्रदेशों का वहाँ मुकाबला है। वह बंधन हमारे कितने देर तक बना रहेगा, बहुत हाथ हिलाया जाता पर वह बंधन इतने देर तक रहेगा, यह भी वहाँ बात हो रही है। वह बंधन दृढ़ है या हल्का है या बड़ा कठोर बन्धन बन गया है, यह बात भी वहाँ है और उस बंधन की प्रकृति क्या है कि यह बेचैन हो रहा है। अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता, यह सब उसकी प्रकृति का फल है, तो वहाँ बंध का स्वरूप पूरा यों होता इतना जानकर भी क्या वह बंधन से छूट जाता है। बंधन से छूटने का उपाय करे तो छूटता है। उस बंधन को काटे तो उससे छुटकारा मिलता है।

कर्म बंधन की चतुर्विधता—इसी तरह कोई ज्ञानी जीव शास्त्रज्ञानी पुरुष बंध के स्वरूप को खूब जानता है। इन कर्मों में ८ प्रकार की प्रकृतिया पड़ी हुई हैं, किसी कर्म में ज्ञान को घातने की प्रकृति पड़ी हुई है, किसी कर्म में दर्शन को घातने की प्रकृति चल रही है, किसी कर्म में साता और असाता के वेदन करने के

निमित्त होने की प्रकृति पड़ी है। किसी कर्म में इस जीव को शरीर में रोके रहने की प्रकृति पड़ी हुई है, किसी कर्म में जीव के भाव और बंध के अनुसार शरीर की रचना करा देने की प्रकृति पड़ी हुई है। किसी कर्म में इस लोक में जीव को ऊँचा या नीचा जता देने के परिणम देने की प्रकृति पड़ी हुई है, किसी कर्म में जीव की भावना के अनुकूल, इच्छा के अनुकूल काम न होने आदि की प्रकृति पड़ी हुई है इसी प्रकार स्थिति प्रदेश अनुभाग भी उनमें है।

बंधस्वरूपज्ञ के भी आत्म स्पर्श बिना मुक्ति का अभाव—खूब जान रहा है यह शास्त्रज्ञानी पुरुष कि कर्मों में विचित्र प्रकृतियाँ हैं स्थितिया भी जानता है, अमुक कर्म हमारे सागरों पर्यन्त रहता है, आत्मा के विकास की प्रगति की अवस्था में कर्म जघन्य स्थिति वाले होते हैं। सर्व प्रकार की स्थितियों का भी परिज्ञान है इस शास्त्रज्ञानी को उनमें प्रदेश पुञ्ज कितने हैं, कैसे हैं यह भी उसे ज्ञात है, उनका फल क्या है, उनमें कैसी शक्ति पड़ी हुई है। इस अनुभाग का भी ज्ञान है इन विद्वान् पुरुषों को, पर बंध के ऐसे स्वरूप का ज्ञान करने के बावजूद भी इस जीव को बंधन से मुक्ति नहीं मिलती है। यह बंध का कारणभूत राग द्वेष मोह भाव न करे तो इसे बंधन से मुक्ति मिलती है ऐसे दृष्टान्तपूर्वक यहाँ मोक्ष का उपाय दिखाया जा रहा है।

मुक्ति का साधकतम आत्मस्पर्श—मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बंध का स्वरूप जान लो, उसका ज्ञान होने से मोक्ष मिल जायेगा। आचार्य देव कहते हैं कि बंध का स्वरूप जानने मात्र से मोक्ष नहीं मिल सकता है। किन्तु बंध के दो टुकड़े कर देने पर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जाने पर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बंध के दो टुकड़े कैसे हों उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञान की स्थिरता। कितने ही लोग शास्त्रज्ञान बढ़ा लेते हैं, बढ़ाना चाहिए, पर उन्हें मात्र शास्त्र के ज्ञान में ही संतोष हो जाता है। कर्मों की बहुत सी बातें जान लें, कर्म ८ तरह के हैं उनके १४८ भेद हैं, उनमें इस तरह वर्ग हैं, वर्गण हैं, निषेक हैं, स्पर्धक हैं उनकी निर्जरा का भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुणस्थानों में इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्णन करने के कारण उन्हें मोक्ष का मार्ग मिल जाये सो नहीं होता है। ज्ञान करना ठीक है, पर उसके साथ भेदविज्ञान के बल से आत्मा का स्पर्श हो सके तो उन्हें मोक्ष का मार्ग व मोक्ष मिलता है।

एकत्व के अनुभव में और आकिञ्चन्य के प्रत्यक्ष में हित एवं संतोष—अनुभाग, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति इनको जान भी लिया तो भी जब तक मिथ्यात्व-रागादिक से रहित नहीं होता, अनन्तज्ञानादिक गुणमय परमात्मा के स्वरूप में नहीं स्थित होता तब तक कर्मबंधों को नहीं त्याग सकता। मुख्य बात सर्वत्र एक यह ही है कि समस्त पर पदार्थों से और परभावों से विभक्त निज ज्ञायक स्वरूप भगवान् आत्मा की पहिचान करें। यह जगत का झमेला न हितकारी है न इसका साथी है, सर्व समागम पर द्रव्य हैं। इन समागमों का क्या विश्वास करें। इनमें हितदृष्टि से अनुराग मत करो। आत्मा का हित तो जितना अपने आपको अकेला, न्यारा केवल ज्ञानप्रकाश मात्र अकिञ्चन अनुभव किया जायेगा, तभी संतोष मिलेगा और जितना अपने आपके अकेलेपन से हटकर बाह्य पदार्थों में दृष्टि लगायी जायेगी उतने ही इसको क्लेश होंगे।

पुरुषार्थ में संयम का स्थान—जैसे कोई बेड़ी से बंधा हुआ पुरुष हो तो सिर्फ उसके ज्ञान करने से तो

बेड़ी छूट नहीं सकती, बेड़ी को तोड़ेगा तो छूट सकेगा । इसी तरह कर्मबंधन से बद्ध आत्मा बंधन के स्वरूप को जान लेने मात्र से न छूटेगा, किन्तु बंध से विविक्त ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा का ज्ञान द्वारा ग्रहण करेगा और इस भगवान आत्मा के उपयोग में स्थिर रहेगा तो मोक्षमार्ग मिलेगा । जितने बाह्य ब्रत, तप, संयम आदिक किए जाते हैं वे ऐसी योग्यता बनाए रहने के लिये किये जाते हैं, जिनमें रहकर यह जीव ज्ञायक स्वरूप भगवान का अनुभव करने का पात्र रह सकता । ब्रत, संयम, नियम का मुख्य प्रयोजन विषय कषाय खोटे ध्यान से बचने का है, यदि दुर्ध्यान से बचा रहेगा तो ऐसी योग्यता रहेगी कि इस अपने चैतन्यस्वभावी प्रभु के दर्शन कर सकेगा ।

ज्ञान के अनुष्ठान की कार्यकारिता—इस व्याख्यान से उनको समझाया गया है जो कर्मों की प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग और इनका विशेष प्रभेद रूप अनेक वर्णनों के जान लेने से संतोष कर लेते हैं । इतना जान लिया कि भगवान के वचन सत्य हैं, इतने मात्र से मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता, किन्तु अपने स्वभाव में द्युकें, रागादिक दूर करें तो मोक्ष का मार्ग मिलता है । जैसे मिठाई का नाम लेते रहो, रोटी का नाम लेते रहो तो नाम लेने से पेट नहीं भरता अथवा दूर बैठे-बैठे बनती हुई रोटी को देखते रहें, अच्छी बनी खूब फूली, अच्छी सिकी, तो केवल देखने से पेट नहीं भरता । पेट तो खाने से ही भरता है, बल्कि खाना बनता हुआ देखने से भूख बढ़ती है, तो जैसे भोजन का नाम लेने से पेट नहीं भरता इसी तरह शास्त्रों का मात्र ज्ञान कर लेने से मोक्षमार्ग नहीं मिलता । किन्तु, शास्त्रों में जो बताया गया है उसको अपने उपयोग में उतारें, अपनी दृष्टि में उस तत्त्व को ग्रहण करें इससे रागादिक दूर होंगे । इस शुद्धवृत्ति के कारण मोक्ष का मार्ग चलता है ।

पर से पर की अशारणता—भैया ! यह जगत असहाय है, ये समस्त प्राणी अशारण हैं । किसी एक के लिए कोई दूसरा शरण नहीं है । सब अपने-अपने कर्मों के उदय से सुख दुःख भोगते हैं, जब पाप का उदय आता है तो कोई पूछने वाला नहीं रहता है । बड़े-बड़े पुरुष भी असहाय होकर मरण करते हैं । जरतकुमार के निमित्त से श्रीकृष्णजी की मृत्यु हुई—इसको सभी लोग कहते हैं कि तना बड़ा प्रतापी पुरुष जो अपने समय में एक प्रभु माना जाता हो और जिसके बड़े भाई बलदेव जिसके अनुराग में सब कुछ कष्ट सह सकते हों, उस समय बलदेव भी साथ न रहे और जरतकुमार जो कि श्रीकृष्ण की मृत्यु के भय से नगरी छोड़कर चले गये थे, पर ऐसा जोग जुड़ा कि पीताम्बर ताने श्रीकृष्णजी सो रहे थे और उनके चरणों नीचे पदम का चिह्न चमक रहा था । सो जरतकुमार ने जाना कि यह हिरण है बस हिरण के धोखे से ही उसने उन्हें मार दिया । तब बलभद्र श्री बलदेव आकर बड़े दुःखी हुये ।

गर्व का सर्वत्र व सर्वदा अनवसर—नौ नारायण और नौ बलभद्र होते हैं । नारायण और बलभद्र भाई-भाई होते हैं । सब जगह प्रायः बलभद्र नारायण की सेवा करते हैं बड़े भाई होकर भी केवल राम-लक्ष्मण का ही एक ऐसा उदाहरण है कि जहाँ लक्ष्मणजी ने राम की सेवा की । आप समझ लो कि नारायण का कितना तीव्र पुण्य होता है । ऐसा पुण्यवान पुरुष का भी जब उदय प्रतिकूल होता है तो असहाय हो जाता है । तब फिर अन्य का कहना क्या है । अपने आप में गर्व करने से क्या फायदा है । थोड़ी सी अच्छी स्थिति पाकर

घमण्ड में चूर होना—कि मैं अच्छे रूप वाला हूँ, मैं धन वाला हूँ, मैं ज्ञान वाला हूँ, मेरी इज्जत प्रतिष्ठा अच्छी है। ये सारे के सारे ख्याल स्वप्न के झूठे दृश्य हैं। जो इनमें उलझ जाते हैं वे आनन्दधन ज्ञानमय प्रभु का दर्शन नहीं कर पाते।

प्रभुदर्शन के अधिकारी प्रभुस्वरूप के तीव्र अनुरागी—भैया! इस प्रभु का दर्शन उन्हें ही मिलता है जो अपने आपको अकेला और अकिञ्चन मानते हैं। अभी यहाँ पर कोई मित्र किसी दूसरे से दोस्ती करे तो पहिले दोस्त से उपेक्षा हो जाती है। यह तो दूसरे को ज्यादा चाहता है। तो यों ही समझो कि कल्याणमय यह प्रभु उस व्यक्ति से उपेक्षा करेगा जो प्रभु को छोड़कर किसी दूसरे से राग करेगा। मानों सोचेगा कि यह तो चेतन अचेतन परिग्रह से राग करता है। प्रभु का फिर वहाँ दर्शन न होगा। जो एक मन होकर प्रभु के दर्शन के लिए ही उतारूँ है—कुछ और नहीं चाहिए, ऐसी वृत्ति बने जिसके, ऐसे पागल पुरुष को भगवान के दर्शन होते हैं। जो प्रभु के दर्शन के लिए पागल हो जाये, दूसरा न सुहाये। पागल नहीं है वह। दुनिया की निगाह में वह पागल है। यों ही लोग सोचते हैं—क्या दिमाग हो गया इसका, न घर की खबर रखे, न दूकान ढंग से करे, न लोगों से ठीक बोले, क्या हो गया इसको, लोग उसे पागल देखते हैं पर ज्ञानी पुरुष इस समस्त जीवलोक को पागल देखता है।

ज्ञानी की दृष्टि में—भैया! देखो तो इसे दूसरों से लेना देना कुछ है नहीं, मिलता कुछ है नहीं, किसी का कोई होता है नहीं, पर कैसा दौड़-दौड़कर खूटा गिरमा तोड़ तोड़कर बाहरी पदार्थों में लग रहे हैं। अपना खूटा है अपना आत्मा और अपना गिरमा है अपनी दृष्टि। सो अपनी दृष्टि तोड़ कर दौड़ता है यह बाहरी पदार्थों की ओर। जब तक अपनी वृत्तियों की गति में अन्तर न आयेगा तब तक कर्मबंधविषयक ज्ञान से भी मोक्षमार्ग न मिलेगा। ज्ञान करना तो आवश्यक है, पर मोक्षमार्ग मिलता है तो आत्मतत्त्व की उन्मुखता से मिलता है।

परीक्षणसाध्य निर्णय—जैसे अभी यहीं आप लोग कोई मान लें कि मैं बिल्कुल अकेला हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, सब जुदे हैं, यह मैं तो अमूर्त ज्ञायकस्वरूप हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, इसमें तो और कुछ लिपटा ही नहीं है। धन मकान की तो बात जाने दो, इसमें तो स्वरसतः रागादिक भाव भी नहीं लिपटे हैं। यह तो शुद्ध ज्ञान मात्र है, अपने आपमें दृष्टि दें, यह मैं केवल ज्ञान प्रकाश हूँ, देखो यहीं छुटकारा होता है कि नहीं होता है, कुछ क्षणों की कुछ हद तक संकटो से छुटकारा अवश्य होगा। तो जहाँ संकल्प विकल्प रंच न रहें, केवल ज्ञाता द्रष्टारूप परिणमन है उनके उपयोग का तो मोक्ष है ही है।

मुक्ति का कदम राग द्वेष का परिहार—भैया! जो जीव कर्मबंध के स्वरूप के विषय में बड़ी-बड़ी रचनाओं की जानकारी करता है बड़ा ज्ञान करता है जिसने त्रिलोकसार पढ़ा, नरक की रचनाएँ जारी, तीनों लोक ऐसे हैं, ऐसे द्वीप और समुद्र हैं, ऐसी-ऐसी अवगाहना के जीव हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी मानकर, धर्मात्मा समझकर स्वच्छन्द रहे, राग द्वेष न छोड़े विषय कषायों से वियोगबुद्धि न करे तो कहते हैं कि ऐसी संतुष्टि से काम न चलेगा।

मोह हेतुविषयक दूसरी जिज्ञासा—अब कोई दूसरा जिज्ञासु चर्चा करता है कि बंध के स्वरूप जानने

मात्र से तो मोक्ष न होगा, यह तो हमारी समझ में आ गया पर बंध छूटे, दूर हो यह बन्ध ऐसे बन्ध की चिंता करें, अपायविचय धर्म ध्यान बनाएँ कि ये रागादिक मिटें, यह क्षोभ खल्म हो तो ऐसा ध्यान बनाने से तो मोक्ष मार्ग मिलेगा ना? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि—

गाथा २९१

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।

तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

बंध के चिंतन मात्र से भी मोक्ष का अभाव—देखो, ऐसा जैसे बेड़ी से बंधा हुआ कोई पुरुष बन्ध से छूटने की चिन्ता करे तो क्या चिंता करने मात्र से वह छूट जायेगा । बेड़ी पड़ी हैं पैर में, हाथ में और ध्यान बना रहे हैं कि कब छूटे बेड़ी, यह बेड़ी छूटे, यह बेड़ी बड़ी दुःखदाई है ऐसा सोचने से बेड़ी टूट जायेगी क्या? ऐसे नहीं टूट सकती है । बेड़ी तो काटने से ही कटेगी, चिन्ता करने से बेड़ी न कटेगी । तो जैसे बेड़ी के बंधन में बंधा हुआ पुरुष बंध की चिंता करके वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता । इसी प्रकार कर्मबंध की चिंता करके भी जीव कर्म से कैसे छूटेगा । ऐसा विचार करके भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है । तो कैसे मोक्ष मिलेगा बंधन से बंधे हुए पुरुष को? उस बंधन को छेदने से, भेदने से, तोड़ने से मोक्ष मिलेगा ।

बंधन के छेदन, भेदन, मोचन से छुटकारा के उदाहरण—किसी के हाथ-पैर रस्सी से बांध दिये, तो उस रस्सी के बंधन को छेद करके ही वह बंधन से छूट सकेगा । केवल जाप करने से बंधन न छूट जायेगा कि मेरी रस्सी टूट जाये, छेद देगा, तोड़ देगा तो वह छूट जायेगी या कोई सांकर से बांध दे तो उस सांकर को यदि कोई भेद देगा तो वह छूट जायेगी । अथवा एक बेड़ी ऐसी होती है काठ की कि उसको फंसा दिया जाता है । अब हथकड़ी भी ऐसी आने लगी है कि एक बार बांध देने पर फिर हथकड़ी को तोड़कर छुटकारा नहीं कराना पड़ता किन्तु उसमें पेंच हैं तो उन्हें अलग कर दिया । इसी तरह की पहिले काठ के बन्धन की परम्परा थी । पैर में काठ डाल दिया और उसमें दूसरे काठ से बंद कर दिया, तो उस बेड़ी को छुटाने से बंधन मुक्त होगा । कोई बंधन छेद जाता है और कोई बन्धन दो टूक किया जाता है, कोई बन्धन अलग किया जाता है ।

बंधनत्रय से छुटकारा का उपाय—इसी तरह इस आत्मा में तीन तरह के बन्धन हैं—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म । सो शरीर को तो छुड़ाना है और द्रव्यकर्म को छेदना है, अर्थात् स्थिति अनुभाग घटा-घटाकर उसे नष्ट करना है और भावकर्म को भेदना है । यह मैं आत्मा चैतन्यस्वभावी हूँ और ये कर्म जड़ हैं ऐसे आत्मस्वभाव को कर्म के दो टुकड़े करना है । ऐसे विज्ञानरूप पुरुषार्थ के बल से यह जीव मोक्ष को प्राप्त करता है । सारांश यह है कि संकटों से छूटना हो तो रागद्वेष मोह दूर करो । राग करते हो तो संकट आयेंगे । राग छोड़ना न चाहें और दूसरों से संकट मिटाने की आशा रखें यह न हो सकेगा । संकट मिटाना हो तो खुद को राग में फर्क डालना पड़ेगा तो संकट मिटेंगे, अन्य प्रकार से नहीं ।

बंधनच्छेद की मोक्षहेतुता—मोक्ष के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि बंध के स्वरूप का मात्र ज्ञान

होने से मोक्ष नहीं होता, किन्तु अन्तरङ्ग ज्ञाता द्रष्टा रहने की वृत्ति के पुरुषार्थ से अर्थात् रागद्वेष न करने के उद्यम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे कोई रस्सी से बंधा है कोई साँकल से बंधा है कोई काठ से बंधा है तो वह बंधन को अच्छी तरह जान जाये कि इस तरह की रस्सी है, इस तरह तेज बंधी है, उन बंधनों के स्वरूप को खूब जान जाये तो क्या स्वरूप जानने मात्र से उसका मोक्ष है। जब तक वह बंधन को छेदे नहीं, भेदे नहीं, छोड़े नहीं तब तक बन्धन से छुटकारा नहीं होता है।

त्रिविध बंधच्छेद के दृष्टान्त—पूज्य श्री जयसेनाचार्यजी ने दृष्टान्त में यहाँ तीन बातें रखी हैं। रस्सी के बन्धन को तो छेदता है, लोहे का बन्धन भेदा जाता है और काठ के बंधन को छोड़ा जाता है। छेदने के मायने उसको तोड़ करके टूक कर दें, भेद के मायने हैं छैनी और हथौड़े की चोट से भेदकर इसको अलग कर दिया जाये। और काठ की जो बेड़िया होती हैं उनमें दोनों ओर छेद होते हैं, उन छेदों में कोई लकड़ी फसा दी जाती है तो वह बध गया, तो काठ के बन्धन को छोड़ा जाता है मायने वह लकड़ी छोड़ दी जाती, निकाल दी जाती तो वह काठ का बंधन छूट जाता है।

त्रिविध बन्धच्छेद—दृष्टान्त के अनुसार यहाँ भी तो तीन प्रकार के बंधन हैं जीवों के। द्रव्यकर्म का बंधन है, भावकर्म का बंधन है और शरीर का बन्धन है। तो इनमें से छेदा कौन जायेगा, भेदा कौन जायेगा और छोड़ा कौन जायेगा? तो द्रव्यकर्म को तो छेदने की उपमा है, क्योंकि जैसे रस्सी छेद-छेदकर तोड़ने से धीरे-धीरे शिथिल होकर कई जगह से टूटती है इसी तरह बंधे हुए द्रव्यकर्मों में, करण परिणामों के द्वारा गुणश्रेणी निर्जरा के रूप से बहुत लम्बी स्थिति में पड़े हुए कर्मों में से कुछ वर्गणायें निकलकर नीचे की स्थिति में आती हैं। कुछ अनुभाग ऊपर से निकलकर नीचे आते। इस तरह धीरे-धीरे छिद-छिदकर द्रव्य कर्म का बंधन समाप्त होता है। इसलिये द्रव्यकर्म के बन्धन में तो छेदने की उपमा होनी चाहिए, भावकर्म के बन्धन में भेदने की उपमा होनी चाहिए। भावबंध भेदा जाता है और देहबन्धन छोड़ा जाता है।

भावकर्म का व नोकर्म का बंधच्छेद—जैसे लोहे की साँकल के छैनी और हथौड़े के प्रहार से दो टूक कर दिये जाते हैं इसी प्रकार भावकर्म अर्थात् विकार भाव और आत्मा का सहज स्वभाव इसकी सीमा में प्रज्ञा की छैनी और प्रज्ञा के हथौड़े का प्रहार करके स्वरूप परिचय द्वारा उपयोग में इन दोनों का भेदन कर दिया जाता है, भिन्न कर दिया जाता है ये जुदे हैं यों जानकर उपयोग द्वारा भिन्न किया फिर सर्वथा भी भिन्न हो जाता है। शरीर का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, किन्तु छोड़ना होता है। जैसे काठ की बेड़ी के अवयव निकाल देने से छुटकारा होता है। यहाँ से बना बनाया शरीर छोड़कर आत्मा चला जाता है अर्थात् द्रव्यकर्म होता है छिन्न, भावकर्म होता है भिन्न और शरीर होता है मुक्त। तो इस तरह यह बंधन छूट निकलें, टूटें, भिन्ने तो जीव मुक्त होता है।

बंध के छेदन भेदन मोचन से मुक्ति—भैया! मात्र बन्ध का स्वरूप जानने मात्र से मुक्ति नहीं होती है। जान लिया कि प्रकृतिबंध एक स्वभाव को कहते हैं। कर्मों में स्वभाव पड़ गया है। प्रकृति कहो या कुदरत कहो। जैसे लोग कहते हैं कि प्राकृतिक दृश्य कितने अच्छे हैं। वे प्राकृतिक दृश्य हैं क्या? कर्म प्रकृति के उदय से जो एकेन्द्रिय वनस्पति, पत्थर की रचना होती है, उसी रचना को प्राकृतिक दृश्य कहते हैं। प्रकृति से

बना हुआ यह सब निर्माण है। जैसे जंगल में पहाड़ होते हैं झरना झरता है चित्र विचित्र पेड़ होते हैं, चित्र विचित्र फल फूल होते हैं, वे सुहावने लगते हैं, उनको लोग कहते हैं कि ये प्राकृतिक दृश्य हैं। बनाये गये नहीं हैं। ऐसी यह प्राकृतिक स्वभाव बनाया नहीं जाता। इन दो के बीच की चीज है, वह सारी वनस्पतियों का, जल और पत्थरों का जो दृश्य है वह बनाया गया भी नहीं है और पदार्थों के स्वभाव से भी नहीं है किन्तु वह प्राकृतिक है। अर्थात् कर्म प्रकृति के उदय से उत्पन्न हुए हैं। सो ये प्रकृति कर्म छिन्न होते हैं और ये रागादिक विकार भिन्न होते हैं और शरीर मुक्त होता है तो जीव को मोक्ष प्राप्त होता है अन्य गप्पों से नहीं।

बंध विज्ञानमात्र से मुक्ति का अभाव—प्रकृतियों के जान लेने मात्र से क्या बंध छूट जाता है? अथवा उसकी स्थितिया जान ली गई कि अमुक कर्म इस स्थिति का है उनके प्रदेश जान लिया, उनका अनुभाग समझ लिया तो इतने से मात्र से मुक्ति नहीं होती है या शास्त्र के आधार से तीन लोक की रचना जान लिया, इतिहास जान लिया अथवा औपाधिक बातें कहा कैसी होती हैं यह भी समझ लिया तो आचार्य देव कहते हैं कि ये सब ज्ञान हैं तो मोक्षमार्ग के सहकारी, पर इतने से मोक्ष नहीं होता है। ज्ञायकस्वरूप भगवान का उपयोग करें, रागादिक भावों को दूर करें तो मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है।

धर्म ध्यानांधबुद्धिता—बन्ध कैसे छूटें, रागादिक कैसे मिटें ऐसे बन्ध के चिंतन से मोक्ष नहीं होता है। कर्मबद्ध जीव बन्ध का चिंतन करे अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करे, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हों, यह भावजगत कैसे दूर हो, जन्म मरण कैसे मिटे, नाना धर्मध्यान रूप चिंतन भी चले तो भी इस धर्मध्यान में ही जिनकी बुद्धि अन्य हो गई है धर्मध्यान अच्छी चीज है मगर इससे आगे हमारी कुछ कृतार्थता है यह बोध जिनके नहीं है, विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही में जो अटक गए हैं ऐसे जीवों को समझाया गया है कि कर्मबंध के विषय में चिंता करने रूप परिणाम से भी मोक्ष नहीं होता है। जैसे कोई बेड़ी से बंधा हुआ पुरुष है और वह बेड़ी के विषय में चिंता करे कि बेड़ी छूट जाये तो ऐसी चिंता करने मात्र से बेड़ी नहीं छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बंधन के सम्बन्ध में चिंता करें, कब छूटे, कैसे छूटे तो इतना मात्र चिंतन करने से बंधन नहीं छूट पाता है। वह तो बंधन के छेदने भेदने काटने से ही छूट सकता है।

भावबंध भेदनवशता—उन तीनों में भी न अपना छेदने पर अधिकार है और न शरीर को निकालने का अधिकार है केवल भावबंध को भेदने का अधिकार है क्योंकि भाव का और स्वभाव का भेदना प्रज्ञा अर्थात् विवेक से होता है और विवेक कर लेना हमारे अधिकार की बात है, करें, जैसे हम चाहें कि इन ८ कर्म शत्रुओं को छेद दें, निकाल दे, तो उन शत्रुओं का ध्यान रखने से या ऐसा अपना उद्देश्य बनाने से कहीं वे कर्म दूर नहीं हो जाते। वे कर्म तो स्वतः ही दूर होते हैं जब इसके उतने उत्कृष्ट परिणाम बन जाते हैं। शरीर के छुटकारा की भी बात अपने अधिकार की नहीं है, छूटना है तो स्वयं छूटता है, मात्र विभावों को भेदने पर अपना वश है। यद्यपि अनादि से अब तक विभावों से छूट नहीं सके, इसका प्रमाण यह है कि हम आप भव धारण कर रहे हैं, नहीं भेद सकते मगर पुरुषार्थ पूर्वक यह देख लें कि द्रव्यकर्म को भेदने में हमारा वश है या भावकर्म को भेदने में हमारा वश है।

भावबन्धभेदनवशता का कारण—भावकर्म को भेदने में हमारा वश यों है कि द्रव्यकर्म और शरीर तो

परद्रव्य हैं, उन पर हमारा अधिकार नहीं है। और, भाव हमारे परिणमन हैं, वे हमारे ज्ञान में आते हैं, तथा स्वभाव मेरा स्वरूप है, वह भी ज्ञान में आता है। तो स्वभाव और विभाव जो कुछ हमारे ज्ञान में आते हैं, जिनके लक्षण को हम समझते हैं, उनका भेद कर दें, जुदा-जुदा स्वरूप पहिचान लें, इस पर हमारा वश है। और, इस ही आधार पर हमारा मोक्षमार्ग हमें मिलता है।

मोक्षहेतु की जिज्ञासा—जो लोग कहते हैं कि बंध की चिंता का प्रबन्ध मोक्ष का कारण हुआ सो बात असत्य है। यद्यपि मोक्ष के कारण में चलने वाले जीवों के बंध के चिंतन का अवसर आता है फिर भी बंध के चिंतन मात्र से मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष तो बंध के खोलने से मिलता है। इतनी बात सुनने के पश्चात् जिज्ञासु प्रश्न करता है—तो फिर मोक्ष का कारण क्या है? न तो बंध के स्वरूप का ज्ञान मोक्ष का कारण है और न बंध के विनाश का चिंतन मोक्ष का कारण है तब है क्या मोक्ष का कारण? ऐसी जिज्ञासा सुनने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

गाथा २९२

जह बंधे छित्तूण य बंधनबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।

तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

बंधच्छेद के मोक्ष हेतुत्व का अनुमान—जैसे बंधन में बंधा हुआ पुरुष बंधन को छेद करके ही मोक्ष को प्राप्त करता है इसी प्रकार कर्मबंधन से बद्ध यह जीव उन बंधों को छेद करके ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। अब उसे दार्शनिक भाषा में अनुमान का रूप देकर सिद्ध करते हैं। कर्मबद्ध जीव के बंधन का विनाश मोक्ष का कारण है क्योंकि हेतु होने से। जैसे साँकल आदि से बंधे हुए पुरुष को बंध का छेद छुटकारा का हेतु है अर्थात् जैसे साँकल से बंधे हुए पुरुष का बंधन उस बंधन के छेद से ही मिटता है इसी प्रकार कर्मबंधन से बद्ध इस जीव का बंधन बंधन के छेद से ही मिट सकेगा। ऐसा कहने पर भी आशय में यह बात आती है कि मोक्ष हेतु है अपने कर्मों का छेदन, याने आत्मा के कर्मों का भेदन।

कर्मशब्द का अर्थ—आत्मा का कर्म है विकार परिणाम जो आत्मा के द्वारा किया जाये उसे आत्मा का कर्म कहते हैं। तो कर्म नाम सीधा विकार भाव का है, और पौद्गलिक द्रव्यकर्म का कर्म नाम उपचार से है। जबकि प्रसिद्धि लोक में पौद्गलिक कर्मों के कर्म नाम को खूब है और आत्मा के रागादिक विकारों को कर्म कहने की पद्धति नहीं है। कर्म का अर्थ कर्म, तकदीर, भाग्य, द्रव्यकर्म। तो प्रसिद्धि तो कर्म शब्द की पौद्गलिक द्रव्यकर्म की है और आत्मा के भावों में जो कर्म शब्द लगाया जाता उसको यों समझते हैं कि लगा दिया है। जबकि वास्तव में शब्द शास्त्र की दृष्टि से कर्म नाम है विकार का, रागादिक भावों का, और जगत् के रागादिक विकारों का निमित्त पाकर वे पौद्गलिक वर्गणाएँ इस अवस्था रूप बन जाती हैं कि जीव के साथ बँध गयी और समय पाकर वे बंध गयी, और निकलते समय जीव के विकार का निमित्त बन गयी। इस कारण उन पौद्गलिक वर्गणाओं का कर्म नाम उपचार से है। सीधा नाम तो आत्मा के विकारों का है।

भेदन, छेदन, स्वतन्त्रता व निमित्तनैमित्तिक भाव—आत्मा के विकारों का भेदन होने पर द्रव्यकर्म का भी

छेदन होता है। द्रव्यकर्म पृथक द्रव्य है, जिनका नाम द्रव्यकर्म उपचार से दिया है उनका निमित्त आने पर जो आत्मा में रागादिक विकार हुए हैं वे रागादिक विकार निमित्तभूत द्रव्यकर्म की किसी भी परिणति से नहीं होते। उस समय भी द्रव्यकर्म का जीव विकार में अत्यन्ताभाव है। निमित्तनैमित्तिक भाव हो रहे की घटना में भी द्रव्यकर्म का आत्मा में अत्यन्ताभाव है। हा, इस योग्य यह आत्मा है कि ऐसे कर्मादय रूप निमित्त का सञ्चिधान होने पर यह जीव अपनी परिणति से कर्मरूप परिणम लेता है। इतनी स्वतन्त्रता है इसकी।

परतंत्रता में भी स्वतन्त्रता—परतंत्रता नाम उसका है कि कोई पर द्रव्य ही मेरा कुछ कर दे, मेरा परिणमन बना दे, सो पर पदार्थ निमित्त होकर भी यह जीव अपनी ही परिणति से विकाररूप बनता है। इसलिए वह अपने कर्म करने के स्वरूप ही है जीव। साथ ही यह भी देखना है कि क्रोध प्रकृति का उदय आने पर इस जीव के क्रोध भाव ही हुआ है मानभाव नहीं हुआ है। ऐसी परतंत्रता नजर आती है तिस पर भी निमित्तभूत पर अपने में अपनी परिस्थिति बनाकर अपना काम समाप्त करते हैं, इसके आगे निमित्तभूत द्रव्य का कुछ काम करने को नहीं है। पर यह आत्मा ऐसी ही योग्यता वाला है कि ऐसी घटना और निमित्त की परिस्थिति में यह अपनी परिणति को विकाररूप बना लेता है।

निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी स्वतन्त्रता—जैसे यहाँ प्रकाश आ रहा है, ये पदार्थ प्रकाशित हैं। बादल आड़े आ जाये तो यहाँ का प्रकाश बन्द हो गया, और बादल हट गए तो यहाँ का प्रकाश फिर आने लगा। तो यह प्रकाश सूर्य से आया हुआ सूर्य का प्रकाश नहीं है। यह सूर्य स्वयं प्रकाशमय चौज है, और जगत के इन पदार्थों के प्रकाशमय बनने में वह निमित्तभूत है। सो उसके होने पर प्रकाश हुआ, न होने पर प्रकाश न हुआ ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध देखा जाता है फिर भी सूर्य ने इन पदार्थों को परतंत्र नहीं बनाया। सूर्य अपना काम करता हुआ अपने में स्वतंत्र है, और यह भी देखिये कि विचित्र सान्निध्य में अपने को नाना पिंडरूप बनाता हुआ चला जाता है यह समस्त पदार्थ, सो ये अपनी ही परिणति से नानादशारूप बनते हैं, इतनी स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता का विवरण—स्वतन्त्रता का अर्थ है—अपने ही परिणमन से परिणम सकना, दूसरे के परिणमन से न परिणमना, इसका ही अर्थ स्वतन्त्रता है। जैसे कर्मों का उदय होने पर आत्मा अपनी परिणति से विकाररूप हो जाता है तो यहाँ निमित्त हुआ द्रव्यकर्म का उदय और नैमित्तिक हुए आत्मा में विकार। इन सम्पूर्ण आत्मा के विकारों का निमित्त पाकर नवीन द्रव्यकर्म में कर्मरूप परिणमन हुआ, तब आत्मा का विकार हुआ निमित्त और कर्मरूप परिणमन हुआ नैमित्तिक भाव। और, यह निमित्तनैमित्तिकपना जीव का और कर्म का परस्पर में अनादि परस्परा से चला आ रहा है। तो निमित्तनैमित्तिक दृष्टि से इन दोनों में परतन्त्रता है तिस पर भी अपना विवेक करके ऐसी परतंत्र परिस्थिति में भी स्वतन्त्रता के देखने के प्रेमी बनें और संकटों से मुक्त हों।

पारतंत्र्य दर्शन में अलाभ—भैया ! परतन्त्रता जैसी स्थिति का कार्य हो रहा है वहाँ हम यदि अपनी इस वस्तुगत दृष्टि को ढीला कर दें तो हमारे उपयोग में परतन्त्रता का ही नर्तन होगा और इस वस्तुगत दृष्टि को मजबूत पकड़ लें तो निमित्तनैमित्तिक भाव की घटना में भी हमें स्वतन्त्रता नजर आयेगी। और, पूर्ण स्वतन्त्रता

में स्वभाव परिणमन है ही। दोनों बातें दिखेंगी। जहाँ विकार परिणमन की स्वतंत्रता की बात कही जा रही है वहाँ निमित्त आवश्यक है, और जहाँ स्वभाव परिणमन की स्वतंत्रता की बात कही जाये वहाँ निमित्त का अभाव रूप निमित्त आवश्यक है। तो बनना चाहिए अपने को स्वतंत्रता का प्रेमी। सिद्धांत का अपघात न हो, वे पदार्थ अपनी धारणा में रहें, कहीं इस स्वतंत्रता का इतना अनुचित उपयोग नहीं बनाना है कि जीव के रागादिक जिस समय होने को होते हैं उस समय होते ही हैं और बाहरी पदार्थों को निमित्त वालों के संतोष के लिये कह देते हैं। जगत के समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्व रूप ही हैं इस कारण ऐसे निमित्तनैमित्तिक भावों की घटना में भी कर्म अपने में अपना परिणमन कर रहे हैं और उसका निमित्त पाकर जीव अपने में अपना परिणमन कर रहा है। जीव अपने में अपना विकार परिणमन कर रहा है, और उसका निमित्त पाकर कर्म अपने में अपने विकार का परिणमन कर रहा है। यह तो निमित्त और उपादान की साधारण बात है।

आत्मविकाररूप कार्य का उपादान—अब आत्मा के विकार का उपादान क्या है इस सम्बन्ध में यदि विचार करते हैं तो दो तरह से समझना चाहिए। एक ओघरूप और एक विशेषरूप। ओघ कहो या सामान्य कहो। सामान्यरूप उपादान को तो जीव पदार्थ बताया है। यह सामान्यरूप उपादान अपनी जाति के परिणमन का नियामक है, पर किसी विशिष्ट परिणमन का नियामक नहीं है। अर्थात् इस चेतन सामान्य उपादान में चेतनत्व जाति का उलंघन न करके परिणमन होगा मात्र इतना ही नियामक है यह सामान्य उपादान और पूर्व पर्याय परिणत चेतनपदार्थ उत्तर पर्याय का विशेषरूप से नियामक है। ऐसा ही परिणमन होना चाहिए। तो विशेष उपादान हुआ पूर्व पर्याय परिणत चेतन पदार्थ।

विकारपरिणति का स्रोत—अब इस चेतन पदार्थ में जो विकार हुआ है सो निमित्तदृष्टि से तो उस द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर हुआ है। उपादान की दृष्टि से पूर्व पर्याय के व्यय रूप से परिणत चेतन से उठकर होता है। निमित्तभूत कर्मों से उठकर नहीं हुआ। तो इस तरह इन दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव हैं, पर यह निमित्तनैमित्तिक भाव कैसे मिट जाये, बस यही करना मोक्ष का उपाय है। इसके मेटने का उपाय विभावों का भेदना है। और, अपन क्या कर सकते हैं। द्रव्यकर्म पर पदार्थ हैं और शरीर भी परपदार्थ है, फिर उसमें यह आत्मा क्या करेगा। आत्मा का वश अपने आपके घर में होगा। स्वभाव भी घर का और विभाव भी घर का। इन दोनों के भेदने से स्वभाव के विकास की जागृति होती है विभावों का भेदन होगा, वहाँ द्रव्यकर्म का छेदन अपने आप होगा।

परबंधन के निरख की सुगमता—इस जगत के साथ बंधन तो लगा ही है, क्योंकि सभी जीव अपने को दुःखी अनुभव करते हैं। और, देखो सबके दिल हैं, सबकी अलग-अलग स्थिति है, मगर सबके न्यारे-न्यारे दुःख हैं। आप और तरह का दुःख करते हैं हम और तरह का दुःख करते हैं, पर जब तक बंधन है तब तक दुःख ही है। दूसरों को ऐसा लगता है कि यह व्यर्थ ही दुःख कर रहा है, न करे दुःख तो क्या हर्ज है, दूसरे दूसरों को इस तरह देख सकते हैं कि व्यर्थ ही यह क्लेश कर रहा है, न ऐसा करे तो क्या हर्ज है। न करे इसका ख्याल तो क्या बिगड़ता है। यह तो सर्वत्र अकेला ही है। इससे कोई दिल मिला तो नहीं है

। सो दूसरे के प्रति तो ख्याल आ जाता है कि व्यर्थ ही यह दुःख कर रहा है किन्तु अपने आप पर जो बात गुजरती है उसका ख्याल नहीं होता है कि मैं व्यर्थ दुःख कर रहा हूँ । अपने आत्मा के सम्बन्ध में यह ध्यान नहीं आ पाता कि मैं तो प्रभु की तरह आनन्दमय हूँ, कहा क्लेश है । मेरे स्वरूप में रंच भी क्लेश नहीं है । यह क्लेश बनाया गया है । उदय का निमित्त पाया और अपने परिणामों को स्वच्छन्द बनाया, विषयों के पाप में अपने आपको व्यर्थ ही जुटाया । अटक कुछ न थी, पर दुःखी हो रहा है । ऐसा ख्याल अपने आपके बारे में अपने आपको नहीं होता ।

परतन्त्र के स्वातन्त्र्य के उपाय की चिंतना—सो भैया ! परतंत्र तो यह है ही पर परतन्त्र की हालत में भी परतन्त्रता से हम छूट सकें इसका कोई उपाय भी है कि नहीं? अगर नहीं है तो धर्म पोथी सब बंद करके आले में रख दो, क्योंकि कर्मबंध है और परतन्त्रता की हालत में भी छूटने का कोई उपाय है नहीं, तो धर्म पोथी एक तरफ धरो । धर्म तो फिर उनके लिए हुआ जो स्वतन्त्र हों । ऐसे जो स्वतन्त्र हैं उनके धर्म करने की जरूरत ही नहीं है । तो धर्म बेकार प्रसक्त होता है, क्योंकि परतन्त्र को फायदा नहीं, स्वतन्त्र को जरूरत नहीं ।

परतन्त्र के स्वातन्त्र्य का उपाय—सो भैया । कहीं ऐसा धर्म बेकार नहीं है । जो अत्यन्त ही स्वतन्त्र हो गया है, सर्वथा ऐसे प्रभु को धर्म पालन की जरूरत नहीं है वह खुद धर्म है, वह धर्ममय है, धर्ममूर्ति है । धर्म पालन की जरूरत तो यहाँ है परतंत्र को परतंत्र अवस्था में भी स्वतंत्रता से छूने का उपाय किया जा रहा है । वह उपाय क्या है कि स्वतन्त्र निश्चल, निष्काम, अनादि अनन्त ध्रुव जो अपना चैतन्य स्वभाव है उसकी जानकारी, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता का यत्न करने लगो । क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि हम पड़े तो हों खोटी जगह और स्वाद ले रहे हों अच्छा । ऐसा हो सकता है या नहीं? हो सकता है गृहस्थावस्था में पड़े तो हैं खोटी जगह ममता के साधने में, घर के बीच, पड़ोसियों की कलह में, यहाँ वहाँ के नटखट में, पर कोई गृहस्थ यदि विरक्त है, ज्ञानी है और उसे बाहर में कुछ नहीं सुहाता तो उसे ज्ञान का स्वाद आ रहा है कि नहीं? आ रहा है ।

पारतन्त्र स्थिति में स्वातंत्र्य दृष्टि के स्वाद की शक्यता—होली के दिनों में आदमियों को विचित्र रंगों से रंग देते हैं आधा मुंह काला कर दिया, आधा नीला कर दिया, ऊपर से लाल कर दिया, पहिचान में नहीं आता, ऐसी सूरत बना देते हैं पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयेगा कि नहीं आयेगा? मिठाई का स्वाद उसे आयेगा । उसका लोग भयानक चेहरा बना देते हैं पर मिठाई का स्वाद तो उसे आयेगा ही । बाहर से देखने में तो यह जीव गन्दे वातावरण में है पर भीतर से यह अपने लक्ष्य को अपने स्वरूप में ले जाये तो उसे ज्ञान का स्वाद मिल सकता है कि नहीं? मिल सकता है । तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लेने से परतन्त्र अवस्था दूर होती है । संसार से छुटकारा पाने का यही उपाय है ।

निज सहज स्वरूप का निज के लक्ष्य में ग्रहण—भैया ! ज्ञान कर लेना तो आसान है पर अपने लक्ष्य में उस ज्ञान को लेना, अपने ध्यान में उतारना यह उससे कठिन है । जैसे रोटी की बात कह लेना आसान है पर रोटी बनाना और खाना यह बात उससे कुछ कठिन है । रोटी की बातें करने से पेट नहीं भरता पेट तो

रोटी खाने से ही भरता है। उसी तरह वस्तु स्वरूप के ज्ञान की बातें करने से मोक्षमार्ग न मिलेगा किन्तु जैसा स्वतंत्र पदार्थ जाना है उस प्रकार उसको लक्ष्य में लेने से मोक्ष का मार्ग बनेगा। उद्देश्य जिसका कुछ नहीं है वह बाह्य क्रियाएं करता जाये पर उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। जैसे नाव चलाने वाले का उद्देश्य कुछ नहीं है कि हमें किस पार जाना है, किस ठिकाने पहुंचना है तो नाव खेता जाये, कभी इस ओर खेता तो कभी दूसरी ओर खेता फिर कभी लौटा दिया, वह नाव को किसी ठिकाने नहीं लगा सकता, तो उद्देश्य बन जाना और भावों को लक्ष्य में लेना ये बातें बहुत कठिन हैं।

स्वयं का कर्तव्य पुरुषार्थ—सो भैया! इस परतंत्र अवस्था में भी अपने सत्त्व के कारण जैसा अपना स्वरूप है उस स्वरूप का ज्ञान करना, भली प्रकार श्रद्धान करना और उसही स्वरूप में लीन होना यही है रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और यही है मोक्ष का मार्ग, सो यह स्वातन्त्र्य विषयी उपयोग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मोह राग द्वेष परिणाम से अपना अहित है ऐसा जिसने न जाना और एक निर्णय होकर मोह रागद्वेष के परिणाम में ही जुटा रहा तो उसका हित नहीं है। इस मोह रागद्वेष में से सबसे पहिले मिटता है मोह, उसके बाद मिटता है द्वेष और सबसे अन्त में मिटता है राग। यह सब इस ही जीव को तो करना है।

मोह, राग और द्वेष का विवरण—मोह कहते हैं मिथ्यात्व को, भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र-स्वतंत्र, अनेक वस्तुओं का सम्बन्ध मानना, कर्तृत्व भोक्तृत्व मानना, सो तो है मोह और परवस्तुविषयक राग करना, पर वस्तु सुहा जाना उसको कहते हैं राग। एक उदाहरण लो—आपका तीन-चार वर्ष का एक पुत्र है मान लो। वह कुछ कलावान भी ज्यादा नहीं है, रूपवान भी नहीं है, घिनावना सा बना रहता है, उस पुत्र से आपको मोह है और राग भी है और दूसरा पड़ोस का या परदेश का पुत्र जो चार वर्ष का है, बड़ा सुहावना है अच्छी पोशाक पहने है, कलापूर्ण बातें करता है बड़े आदमियों जैसी—तो आपको वह बालक सुहायेगा कि नहीं? सुहायेगा, किन्तु मोह हुआ कि नहीं हुआ? नहीं हुआ। दूसरे का सु-रूपवान, कलावान बालक सुहा तो जायेगा, परन्तु मोह न होगा। ऐसा ही मोह और राग में अन्तर है।

मोह राग और द्वेष के नाश होने का क्रम—सबसे पहिले छूटता है जीव का मोह, मोह मिटा कि सम्यक्त्व जगा। मोह मिट जाने पर भी अभी राग और द्वेष सतायेंगे, सो जब उत्कृष्ट ऊचे परिणाम होंगे, अपने को एकाकी और अकिंचन मानने के परिणाम बनेंगे और ऊची निर्मलता बढ़ेगी तब जाकर मिटेगा द्वेष। राग भी मिट रहा है पर समूल नष्ट होगा पहिले द्वेष। फिर रह गया केवल राग। सो जब मोह और द्वेष ने संग छोड़ दिया तो राग कब तक रहेगा। वह राग भी दूर हो जायेगा। यों जब मोह राग द्वेष दूर हो जाते हैं तब इस जीव को केवलज्ञान उत्पन्न होता है। अभी अरहंत भी हैं और हैं इस संसार में शरीरसहित, पर वे भी मुक्त हैं, चार कर्मों से तो मुक्त हुए ही हैं, अब केवल अघातिया कर्म रह गए। सो अघातिया का प्रभाव कम है। अरहंत भगवान को न मुक्त बोलते हैं न संसारी बोलते हैं किन्तु जीवन्मुक्त बोलते हैं। प्राणों से जिन्दा होकर भी मुक्त हैं। सो यों जानना कि अपने परिणामों की निर्मलता से बंध कटते हैं इसलिए ज्ञान के साथ-साथ अंतरङ्ग का संयम भी चाहिए।

दो जिज्ञासुवों का प्रतिबोधन—यहां मोक्ष की बात चल रही है कि मोक्ष का हेतु क्या है। अब तक दो तरह के जिज्ञासु सामने आए, एक तो यह कहते हैं कि बंध के स्वरूप का ज्ञान हो जाये उससे मोक्ष होता है, और एक जिज्ञासु ने यह बताया है कि बन्ध मिटे ऐसे चिंतन से मोक्ष होता है। आचार्य देव कहते हैं कि ये दोनों ही बातें मोक्ष की साधकतम नहीं हैं, किन्तु जिन उपायों से बन्ध होता है उनसे उल्टा चलना सो मोक्ष का कारण है। बंध होता है रागद्वेष मोह के करने से तो रागद्वेष मोह न किए जायें सो मोक्ष का कारण है। यही कहलाता है आत्मा और बंध के दो टुकड़े करना। सो इन दोनों जिज्ञासुवों को भली भाँति समझाकर उन्हें इस बात में लगाया गया है कि तुम आत्मा को और विभावों को भिन्न-भिन्न करो, जानो और इस ही रूप ज्ञान का परिणमन स्थिरता बनावो यही मोक्ष का हेतु है। अब प्रश्न किया जा रहा है क्या बंध को नहीं करना ही मोक्ष का कारण है? इसके उत्तर में कहते हैं—

गाथा २९३

बंधाणं च सहावं वियाणियो अप्पणो सहावं च ।

बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खं कुण्ड्य ॥२९३॥

मोक्ष की साधना—जो आत्मा बंधों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बंधों से विरक्त होता है वह पुरुष कर्मों से मुक्त होता है। प्रश्न में जो बात पहिले उठाई गई है उसी का यह समर्थन है, आत्मा ज्ञानमय और आनन्दघन है अर्थात् ऐसा विचार अपने आपके बारे में हो कि आत्मा का स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, ज्ञान तो प्रभु का नाम है और आनन्द आल्हाद की नाम है। जहाँ रंच आकुलता न हो, समस्त गुणों की सम्हाल हो ऐसी स्थिति को आनन्द कहते हैं। यह तो है आत्मा का स्वभाव और कर्मबंधों का स्वभाव कैसा है?

विभाव का विदारण—बन्ध का स्वभाव आत्मतत्त्व से विपरीत है। आत्मा के ज्ञान में रोड़ा अटकाने के निमित्तभूत तथा आनन्द से विपरीत लौकिक सुख और दुःख के परिणाम को उत्पन्न करने में समर्थ बंध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को पहिले जानना आवश्यक है। ये भिन्न-भिन्न जांचेंगे। हमारा स्वभाव दुःख के लिए नहीं है पर बंध का स्वभाव दुःख के लिए है। रागादिक विकार उत्पन्न होना केवल अनर्थ के लिए है, उससे आत्मा को लाभ नहीं है। सो जब यह जान लिया जाता कि आत्मा का हित तो आत्मा के स्वरूप में है और अहित विकार में है तो जो अहित की चीज है उससे उपेक्षा हो जायेगी। यथार्थ ज्ञान बल से जिसको क्या बंधों से वैराग्य हो जाये, अपने रागद्वेष परिणाम से उपेक्षा हो जाये वही पुरुष कर्मों से छुटकारा पा सकता है। ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा स्वभाव निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र है, और बंधों का स्वभाव इस आत्मा में विकारों को करने का है।

मोह, राग द्वेष से शांति की असंभवता—भैया! कौन जीव रागद्वेष मोह करके शांत हो सकता है? एक भी उदाहरण किसी का दो कि देखो उसने मनमाना राग किया और शांत हुआ। राग के काल में भले ही बेहोशी से अपने आपको प्रसन्न मानें, कृतार्थ मानें पर चूंकि राग का स्वभाव आकुलता ही है सो आकुलता

अवश्य करेगा । रातदिन जो क्लेश रहता है वह क्लेश है किस बात का? रागपरिणाम का, द्वेष तो पीछे हुआ राग के होने के कारण । किसी राग बिना अन्य वस्तु का लक्ष्य करके सीधा द्वेष कभी नहीं होता । जिस चीज में राग है उसमें कोई बाधा दे तो द्वेष होता है । तो सीधा होता है राग । सो सब अपने-अपने चित्त को टटोल लो, जो कुछ थोड़ा बहुत क्लेश है वह राग के कारण है । राग न हो तो कोई क्लेश नहीं है । अपनी-अपनी चीज देख लो । घर में राग, बच्चों में राग, इज्जत में राग, सबमें अपने को बड़ा कहलवाने का राग, कितने राग बसे हुए हैं । उन रागों का स्वभाव ही आकुलता है । कोई दूसरा आकुलता नहीं करता । पुण्य का उदय ही और राग के अनुकूल सब साधन भी मिले, इतने पर भी इस जीव को आकुलता राग के कारण अवश्य है ।

जैन सिद्धांत की वास्तविक भक्ति—जैन सिद्धान्त की भक्ति तो यह है कि ऐसा सद्विचार बनाएँ ऐसा सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करें कि जिसके प्रसाद से मोह तो बिल्कुल रहे ही नहीं, राग और द्वेष मंद हो जायें । गृहस्थावस्था में राग द्वेष बिल्कुल न रहें यह तो नहीं हो सकता । जब आरम्भ और परिग्रह का साधन भी बनाया है तो राग द्वेष तो कुछ न कुछ हुआ ही करेगा, पर यह बात हो सकती है कि मोहवंध न भी हो । ऐसा विरले को हो सकता है सो यहाँ शंका होती है कि यह भी बड़ा कठिन है कि घर में रहे और मोह न हो, यह तो कठिन मालूम होता है । किन्तु शास्त्र और उदाहरण बतलाते हैं कि ऐसे भी ज्ञानी गृहस्थ होते हैं जो गृहस्थी के बीच, दूकान, परिवार, व्यापार सभी की सम्हाल करते हैं और फिर भी उनके मोह नहीं रहता है ।

उदाहरण की खोज—भैया ! भरत जी का उदाहरण प्रसिद्ध है । यदि भरतजी की बात सोचने से हृदय पर छाप नहीं पड़ती, क्योंकि वह बहुत पुराना वृत्तान्त है तो अपने ही गांव में, अपने ही देश में अगल बगल के गांवों ज्ञानी गृहस्थ मिलते हो उनको देखो तो कुछ असर पड़ेगा । इतिहास में महापुरुष हुए हैं पूर्वकाल के चतुर्थ काल में, पर कुछ प्रकृति ऐसी है कि वर्तमान में कोई आदर्श मिले तो उसका असर जल्दी पड़ता है । क्योंकि जो बहुत पहिले की गुजरी बात है वह स्पष्ट सामने नहीं आती है और यहाँ वहाँ कोई ज्ञानी मिले तो उसकी बात स्पष्ट आती है । खोजो अपने गांव में कोई है ऐसा विरक्त ज्ञानी गृहस्थ कि कार्य भी सब सम्हाले हैं पर मोह नहीं हे ।

निर्मोह मानव की पहिचान—जिसके मोह न हो उसकी पहिचान यह है कि निसर्गतः शांतस्वभावी हो, किसी भी लौकिक कार्य में हठ न करे, ऐसा हो गया ठीक, ऐसा हो गया ठीक, दूसरे लोग हमारे थोड़े त्याग के कारण यदि सुखी हो सकते हैं तो वे त्याग करने में विशेष सोच विचार न करेंगे । यह है ज्ञानी विरक्त गृहस्थ की पहिचान । धर्मात्माजनों से अनुराग होगा, दुःखी पुरुषों पर उसके दया होगी और आत्मा के चरम विकाश की पूर्ण श्रद्धा होगी, आत्मा है, परमात्मा है, ध्रुव है, जो पदार्थ जैसा है उस प्रकार मानने की श्रद्धा होगी—यह है ज्ञानी पुरुष की पहिचान । अपने गाव में खोजो—मिलेगा ऐसा कोई । ऐसा नहीं है कि न मिले । पर कीचड़ से सने हुये सोने की परख देर से हो पाती है, न मिले आपके गाव में तो आसपास के गावों में देखो । पंचम काल के अन्त तक ज्ञानी साधुओं का भी सद्भाव बताया है तो क्या फिर ज्ञानी गृहस्थ भी न

मिलेंगे ।

अंतस्तप—ज्ञानी पुरुष यों देख रहा है कि मेरे आत्मा का स्वभाव तो रागद्वेष मोह रहित केवल ज्ञाता द्रष्टारूप रहने का है । इस मुझ आत्मा में जो अनर्थ उत्पन्न होता है कल्पना जगती है, रागद्वेष मोह होता है वे सब बंध के स्वभाव हैं । ऐसा जानकर जो ज्ञानी बंध से विरक्त होता है वह इन समस्त कर्मों से छुटकारा प्राप्त करता है । इस कथन से यह जानना कि मोक्ष का कारण आत्मा और बँध को भिन्न-भिन्न कर देना है । सबसे बड़ी तपस्या हैं यह कि अपने में जो कल्पनायें उठती हैं, रागद्वेष भाव जगते हैं उनको अपने से न्यारा जानो, विकार जानो, बंध का स्वभाव जानो, हेय जानो, और अपने आपको केवल ज्ञाता द्रष्टा ज्ञायक स्वभाव जानो । ऐसा भीतर में स्वभाव और विभाव के भिन्न-भिन्न जानने का जो पुरुषार्थ है वह पुरुषार्थ मोक्ष का हेतु होता है ।

स्वघटित ज्ञान—भैया ! हम कुछ भी जानें, अपने आप पर घटाते हुए जानें तो हमारा जानना सच्चा है और केवल एक झूठा आनन्द लूटने के लिए हम बाह्य पदार्थों को जानें तो वह हमारा सच्चा ज्ञान नहीं है । घर जानने में आ रहा है तो कोई तो यों जानेगा कि मेरा घर है, उसने भी जाना, और कोई यों जानेगा कि मेरा घर नहीं है, इसमें कुछ दिन रहना है यह भी तो घर का जाना हुआ । परन्तु पहिले प्रकार का जानना तो मिथ्या है, दुःख के लिए है । और यह मिट्टी ईट का घर है, इसमें कुछ दिन रहना है, इस तरह का जो ज्ञान है यह सच्चा ज्ञान है—कारण कि इस ज्ञान में अपने आप पर तत्त्व घटाया । कुछ दिन मुझे इसमें रहना है, मेरे साथ यह घर सदा न रहेगा, ऐसा अपने आप पर घटाते हुए जाना इसलिए वह ठीक ज्ञान हुआ । इसी तरह जो कुछ भी जानों, अपने आप पर घटाते हुए जानो तो वह जानना भला है ।

शरीर का स्वघटित ज्ञान—शरीर को जाने तो अज्ञानी यों जानेगा कि यह ही मैं हू, दुबला हूँ, मोटा हूँ, गिरती हालत का हूँ, चढ़ती हालत का हूँ, इस तरह जो जाना उसका ज्ञान मिथ्या है क्योंकि उसने अपने आप पर कुछ बात नहीं घटाया । यह भी शरीर को जानना है, और इस तरह भी शरीर का जानना हो सकता है कि यह कुछ समय से बन गया है, कुछ समय तक इसमें मैं रहूंगा, बाद में छोड़कर जाऊँगा । यह शरीर विघटने और गलने का स्वभाव रखता है । ज्यों-ज्यों उम्र गुजरती है त्यों-त्यों शरीर क्षीण होता जाता है । यह तो कुछ समय को मेरा घर बना है, पर, यह मेरा घर सदा न रहेगा, इसे छोड़कर जाना होगा । यह भी तो शरीर का जानना हुआ ना, यों जानने में अपने ज्ञान ने आप पर बात घटाया इसलिए यह ज्ञान सच्चा ज्ञान हुआ ।

बालक पर स्वघटित ज्ञान—विश्व की कुछ भी बात जान लें, पर अपने आप पर घटाकर जानें तो सम्यग्ज्ञान हो जाये । घर का बालक, गोद का बालक, जिसको गोद में लिए बिना काम न सरेगा, उसे बहुत कुछ पालना पोसना भी है, जिम्मेदारी और भार भी है फिर भी उसे इस तरह जानना कि यह मेरा पुत्र है, मेरा यही सर्वस्व धन है, इससे ही मेरी शोभा है, इससे ही बड़प्पन हो रहा है, इस तरह से उस बालक का जानना झूठा ज्ञान है, और उस बालक को इस तरह जानें कि देखो यह जीव किसी गति से आया है कुछ समय को इस देह में रहेगा अपने किए हुए कर्मों को यह साथ लाया है, मेरे से यह अत्यन्त भिन्न है, पर इस

भव में ऐसा ही समागम हो गया है कि मेरे ही निमित्त से मेरे ही निकट इसका जन्म हुआ है। इस तरह अपने आप पर घटते हुए उस बालक को जानना सम्यग्ज्ञान हो गया।

धर्मपालन—भैया! जानना भर ही तो है—तो मिथ्यारूप से न जानो, भली विधिरूप से जानो। जानने को कोई नहीं रोकता। जानना तो हुआ ही करेगा। जाने बिना आप खाली न बैठ सकेंगे। जानो मगर सब चीजों को अपने हित अहित का सम्बन्ध जोड़ते हुए जानो। ऐसा जानना यही सम्यग्ज्ञान हो मया। जिस प्रकार के जानने से विकार भाव हटे, रागद्वेष मोह दूर हो उस प्रकार के जानने में प्रयत्नशील रहो। ऐसा ऊँचा धर्म करने के लिए बड़ा त्याग करना होगा। परिणामों में निर्मलता आए तब धर्म पल सकता है। अपन सबको ऐसा धर्म पालने का तरीका बनाना है कि जहाँ चाहे हो, मंदिर में घर में अथवा रास्ता चलते हुए में सभी जगह धर्म पाल सकते हैं। मंदिर हमारे आपके धर्म पालन का मुख्य साधन है। सो कितना धर्म पाला जाता, है, पर रोज ही भूल जाते हैं। सो उस धर्म के स्वरूप को जानने के लिए, याद करने के लिए हमें मंदिर आना चाहिए। परधर्म तो जहाँ चाहे आप पाल सकते हो, जहाँ अपने ज्ञान स्वभाव पर दृष्टि हुई और औपाधिक मायाजाल, विकार भावों से आपकी अरुचि हुई वहीं आपने धर्म पाल लिया।

शान्ति का साधन—तो भैया! शांति का कारण क्या है कि अपने आत्मा के स्वभाव को जानें। इससे बंधों से विरक्ति हो जायेगी। अपनी करतूत से जो क्रोध, मान, माया, लोभ परिणाम होते हैं उनसे वैराग्य प्राप्त करो। मेरे विनाश के लिए ही ये मेरे माया भाव होते हैं। उनसे विरक्ति हो तो यह समस्त कर्मों से मोक्ष करने में कारण है। इस गाथा में पूर्वकथित सिद्धान्त का पूर्ण नियम किया। किसी के भी मोक्ष का कारण आत्मा का और बंध भाव के भिन्न २ कर देने में है।

शान्तिसाधना—देखो भैया! धर्म का पालन, मोक्ष का मार्ग कितना सुलभ है, भीतर की दृष्टि सही बने तो यह अत्यन्त सुगम है और एक अपनी दृष्टि सही न बने तो अत्यन्त कठिन है। कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है, इसलिये बहुत-बहुत चुप रहकर ज्यादा बातचीत न करके अपने आपमें इस तरह का ध्यान बनाया करें कि मैं आत्मा तो विकार रहित हूँ, चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ, जैसा प्रभु का स्वरूप है वैसा मेरा स्वरूप है, पर कर्म उपाधि के सान्त्रिध्य से ये विकारभाव जगे हैं। रागद्वेष कल्पनाएँ मोह ख्याल ये चीजें मेरी नहीं हैं, ये मेरे अनर्थ के लिए हैं, ऐसी ही भीतर में श्रद्धा बनायें और बंधों से विरक्त हो तो इससे शांति प्राप्त होगी।

आत्मा और बन्ध के द्वेषीकरण का साधन—सत्य आनन्द चाहने वाले पुरुष को आनन्दमय अपने आत्मा का स्वरूप जान लेना चाहिए और अपने आनन्द में विधात करने वाले विकार भावों का स्वरूप जान लेना चाहिए। स्वर में ऐसी भावना करें कि जितने भी विकार हैं रागद्वेषादिक हैं वे मेरे से पृथक् हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। ये विकार औपाधिक हैं, ऐसा विवेक करने पर आत्मा से रागादिक दूर हो जाते हैं। इस ही उपाय को एक प्रश्न के उत्तर में कहा जा रहा है। प्रश्न यह किया गया है कि आत्मा और बंध अलग-अलग, किस प्रकार किए जाते हैं? उत्तर में श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं—

गाथा २९४

जीवो बंधों य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियमेहिं ।

पण्णाछेदणयेण उ छिणाणाणत्तमावणा ॥२९४॥

सोदाहरण विविक्तीकरण—जीव और बंध अपने-अपने नियत लक्षणों से जुदे-जुदे कर दिये जाते हैं । जैसे पानी गर्म हो गया, अब वहाँ पानी का स्वभाव और पानी में हुए विकार ये दो बातें अलग-अलग हैं । ऐसा ज्ञान करा देने वाले उनके अपने लक्षण हैं । गर्म पानी होने पर भी जब यह पूछा जाता है कि पानी का स्वभाव कैसा है तो शीतल बतायेंगे । किन्तु गर्मी क्या है नहीं इस जल में? है । यदि नहीं है तो यह जल गरम कैसे होता ? पर जल का स्वभाव गरम हो तो जल ठंडा न होगा । तो गरम होने पर भी पानी का स्वभाव जैसे ठंडा है इसी प्रकार रागादिक विकार होने पर भी आत्मा का स्वभाव निर्विकार ज्ञानस्वरूप है, ऐसे अविकारी ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्व का ज्ञान हो, इस ओर ही उम्मुखता हो तो बंध दूर हो जाता है ।

दृष्टि द्वारा शक्ति परिचय का एक उदाहरण—इस प्रज्ञा को छेनी कहते हैं जो छेद दे उसका नाम छेनी है । यह स्वलक्षण पहचानने वाली बुद्धि स्वभाव और विभाव को जुदा कर देती है । और इस तरह से वे दोनों के दोनों नानापन को प्राप्त हो जाते हैं, दूध को देखकर लोग बता देते हैं कि इसमें प्रति सेर आधापाव धी निकलेगा, इसमें प्रति सेर १। छटांक धी निकलेगा । धी नहीं दिखता, दूध ही केवल सामने है, धी वहाँ नहीं है फिर भी बुद्धि ज्ञान प्रतिभा प्रज्ञा ऐसी एक विलक्षण दृष्टि है कि उस ज्ञान के द्वारा वहाँ यह बता दिया जाता कि इस दूध में १। छटांक धी फैला हुआ है । धी नहीं वहाँ दिखता है, न वहाँ मौजूद है, फिर भी दूध के स्वभाव को, दूध की सामर्थ को देखकर यह कह दिया जाता कि इसमें धी अधिक है, इसमें धी कम है । तो जो पर्यायरूप में प्रकट नहीं है उस धी को भी जो दृष्टि बता सकती है उस दृष्टि में ही वह सामर्थ्य है ।

व्यर्थ का मोह—हमारा आत्मा यद्यपि आज बहुत बंधनों से बंधा है, आशा आदिक नाना परिणमनों में यह चल रहा है इतने पर भी आत्मा का स्वभाव हैं ज्ञान और आनन्द । जो अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को पहिचानता है उसका मोह दूर होता है न इस लोक में दुःख केवल मोह का है । अनन्त जीवों में से दो चार जीवों को आपने मान लिया कि मेरे हैं—बताओ क्या सम्बन्ध है ? कुछ समय से आपके घर में आए हैं कुछ समय बाद वे बिछुड़ जायेंगे । रंच भी तो सम्बन्ध नहीं है । फिर भी दिल में ऐसा घर बना हुआ है उनके लिए कि वे ही आपके सब कुछ हैं ।

अयथार्थ ज्ञान में मोह—भैया ! जो बात जैसी नहीं है वैसी मानना यही मोह है इससे ही क्लेश है । जगत का वैभव अनित्य है, विनाशी है, पर जिसे जो वैभव मिला है अपने पाये हुए वैभव में कुछ ऐसा नहीं सोचते हैं कि ये नष्ट हो जायेंगे, दूसरे के वैभव को सोच लेंगे कि यह कितने दिन का है यह तो नष्ट होगा ही, पर खुद के निकट जो वैभव आया है उसमें बुद्धि नहीं जगती कि इसमें क्या हर्ष करना, यह तो नष्ट हो जायेगा । जो चीज नष्ट हो जाने वाली है उसको अविनाशी समझना यही दुःख का कारण है । शरीर में नहीं हूँ, शरीर जड़ है, मैं एक ज्ञान ज्योति प्रकाश हूँ, फिर भी शरीर को हो मानना कि यह मैं हूँ, यह मिथ्या

धारणा ही क्लेश का कारण है।

वस्तु स्वातंत्र्य—वस्तु का स्वरूप देखने पर प्रत्येक वस्तु न्यारी है, निराली है। एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक जीव न्यारा है। कितना ही घनिष्ठ प्रेम हो फिर भी ये परेशान है। हम दोनों जीव एक क्यों नहीं हो पाते हैं? इनका आत्मा एक क्यों नहीं बन जाता, यों मोहीजन अपने में परेशानी महसूस करते हैं। किन्तु, सत्य ज्ञान का प्रकाश पायें तो अभी सुखी हो जायें। दुःखी तो जीव कल्पना से है। कुछ कल्पना कर डालें तो दुःखी हो गये।

परिग्रह परिमाण की आवश्यकता—मैया! जिसके पास जितना धन है उससे अधिक पर यह जीव दृष्टि डाल रहा है, सो जो मिला है उसका भी आनन्द नहीं मिल पाता है। परिग्रह परिमाण हो जाये कि जो हमारी वर्तमान स्थिति है, गुजारा हो ही रहा है, मुझे इससे अधिक न चाहिए, और कदाचित् उदयवश आ जाये तो उसे मैं न रखूँगा, लोगों के उपकार में लगाऊगा, ऐसी धारणा करके कोई परिग्रह का परिमाण कर ले और पाये हुए परिग्रह को ही अपनी आवश्यकता से अधिक जान ले तो उसको संतोष हो सकता है, नहीं तो मान लो जायदाद ५० हजार की है और दृष्टि यह लग रही है कि कैसे मैं लखपति होऊँ तो उस पाये हुये धन से भी आनंद नहीं मिल पाता है, क्योंकि तृष्णा हो गयी है। इस तृष्णा के विनाश के लिये परिग्रह परिमाण अत्यावश्यक है।

धर्म दृष्टि के लिए जीवन—जैन सिद्धान्त में श्रावकों के लिए पहिली बात यह बतायी है कि जो तुम्हारी स्थिति हो, जो आय हो उसके ही भीतर गुजारा करके दाम देकर संतुष्ट रहो। गुजारे का कोई हिसाब तो है नहीं, मापदण्ड तो है नहीं कि ५०० में गुजारा होता है या २०० में गुजारा होता है या १०० में गुजारा होता है कोई मापदण्ड तो है नहीं चाहे ५०० खर्च करो। और, कितने ही लोग ५० में ही गुजारा करते हैं ऐसी भयंकर स्थिति में भी। तो यह तो अपनी-अपनी कल्पना की बात है। दुःखी यह जीव केवल कल्पना से होता है नहीं तो यह जानना चाहिए कि हम मनुष्य हुए हैं तो एक धर्म पालने के लिए मनुष्य हुए हैं। हमें यहाँ अपनी इज्जत नहीं गाड़ जाना है, हमें यहाँ अपना कोई ठाठ नहीं बनाये जाना है। कौन किसे जानता है। किसकी किससे पहिचान है। सब अपने आपके कथाय परिणाम के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करते हैं। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर सबसे उपेक्षा हो और अपने आपमें ही अपने आपको संतुष्ट करे तो इससे शांति मिल सकती है।

संकट का मूल तृष्णा—मैया! जहाँ इन मायामय जीवों में अपनी कुछ इज्जत चाहने की बात उत्पन्न हुई कि समझ लो कि संकट लग गये। एक देहाती जो देहात में बहुत मामूली सात्त्विक वृत्ति से जीवन व्यतीत करता रहा हो, भाजी रोटी खाता रहा हो, साधारण मोटे कपड़ों से अपने आपको संतुष्ट मानता रहा हो और दुर्दैव से उसे किसी शहर में रह जाना पड़े तो शहर का रहन सहन देखकर उनका खानपान देखकर या कुछ वैसा ही खानपान थोड़ा मिल गया, रहन सहन का ढंग आने लगा पैंट कमीज का बर्तावा होने लगा, अब जो देहात के सुख थे वे सब दूर हो गये, भोगों की इच्छा बढ़ने लगी, कामनाएं बढ़ने लगी, अब उसका जीवन दुःखमय हो गया, दुःखमय जीवन बनता है तृष्णा से। तृष्णा होती है जगत के मायामय जीवों में अपने

को कुछ दिखा जाऊ ऐसी कामना होने से ।

द्वैतदृष्टि में मोह का ऊधम—भैया ! किसी से लड़ाई हो और वह अकेले में ही हो, उसे गाली सुना दे तो बुरा नहीं लगता और कोई तीसरा देख रहा हो, सुन रहा हो तो उसे बहुत बुरा लगता है मेरा अपमान कर दिया । जगत के मायामय जीवों कैसा आकर्षण है मोही जीव का कि बिना ही जड़ मूल के कल्पनाए बनाकर अपने आपको परतन्त्र बना रहे हैं । भैया ! जब तक आत्मदर्शन न हो, सब पर वस्तुओं का ख्याल छोड़कर मन को विश्राम न दें और केवल ज्ञान ज्योति का अनुभवन न कर पायें तब तक यह मायाजाल उसे सत्य प्रतीत होता है । यह बात कही जा रही है मोक्ष के मार्ग की । यद्यपि गृहस्थावस्था में इतनी उदासीनता नहीं आ सकती पर किसी-किसी क्षण गृहस्थ को भी अपने शुद्ध स्वरूप की झलक होती है । और, उस झलक के प्रसाद से बाकी समय में भी वह निराकुल रहता है, यह आत्मा की झलक, आत्मा का यह अनुभव कैसे प्रकट हो उसकी चर्चा यहाँ की जा रही है ।

स्वभाव और विभाव के विवेक का अभिन्न साधन—आत्मा और रागादिक बंधन इनको दो जगह करनेरूप कार्य में यह सोचा जा रहा है कि इस आत्मा को साधन क्या मिले, जिससे यह आत्मस्वभाव और ये रागादिक विकार दूर हो जाए । इस पर विचार करने से यह निश्चय हुआ कि वह उपाय मेरे से भिन्न नहीं है । मेरे से भिन्न साधन में यह ताकत नहीं है कि मुझे छुड़ा दें । वह उपाय मेरे में ही है, वह है चैतन्यात्मक साधन । प्रज्ञा, विवेक, बुद्धि से इन दोनों के स्वरूप को पृथक् समझ लिया आत्मा और बंधन इन रागादिक विकारों से जब अपने ज्ञान को जुदा मान लिया जायेगा तो कभी रागादिक दूर हो जायेंगे ।

प्रभु की आदर्शता—जिनकी हम उपासना करते हैं—अरहंत देव, सिद्धभगवान इन्होंने यह काम किया था पहिले, अपने स्वभाव को पहिचाना और रागादिक से उपेक्षा की थी जिसके परिणाम से उन्हें उत्कृष्ट पद मिला, आकुलतारहित परिणमन हुआ जो आज भव्य जीवों के लिए आदर्शरूप हैं, जिनकी आज पूजा करते हैं, जिनके चरणों में हम मस्तक झुकाते हैं, जिनकी उपासना की जाती है वे प्रभु इन सब झंझटों से मुक्त हुए हैं ।

शांति के सम्प्रदान की दृष्टि की आवश्यकता—भैया ! देना है सुख और दूर करना है दुःख । तो जिसको हमें शांति देना है वही हमारी नजर में न रहे तो शांति किसे दें? भगवान यह ज्ञायक स्वरूप प्रभु सबके स्वरूप में मौजूद है, प्रभु बिना कोई नहीं है, सबके घट में भगवान है । सबकी आत्मा में प्रभु बसा है किन्तु अपने प्रभुस्वरूप का स्मरण नहीं है सो दीन होता हुआ आशा करके भिखारी बन रहा है । जब अपने आपके प्रभुता की स्मृति होगी तो ये सब संकट दूर हो जायेंगे । हमारे इस परमात्मतत्त्व के दर्शन में बाधा डालने वाला अहंकार है । पर पदार्थों में अहंकार करना, गर्व करना, अपने आपके परिणमन में अहंबुद्धि रखना, इस अभिमान ने हमारे प्रभुदर्शन को रोक दिया है । अहंकार न हो तो प्रभु का दर्शन शीघ्र होगा । एक अहंकार ही बीच का ऐसा पर्दा पड़ा है कि इसके कारण यह मैं अपने प्रभु के दर्शन नहीं कर पाता ।

अहंकार में प्रभुमिलन की बाधकता—अंहंकार को लोग लौकिक भाषा में मान रखना कहते हैं—भैया ! देखो विचित्र बात कि मनुष्य के सब शरीर में बेकार चीज नाक है, आंखों से तो कुछ काम निकलता

है—देखते हैं, कानों से राग रागिनी की बातें सुनते हैं कुछ आनन्द लेते हैं, मुख से सुन्दर रचनायें कवितायें बोलते हैं, और सारा जगत व्यवहार इस सुख से चलता है। हाथ भी काम के हैं, पैर भी काम के हैं, सब अंग काम के हैं पर नाक एक बेकार सी लगी हुई है। इस नाक से कोई चीज भोगने में नहीं आती। यह नाक इस शरीर में घृणा का साधन है इसलिए यह बेकार सा अंग है, पर यह सबका सिरताज बन रहा है। कहते हैं कि हमारी नाक रख लिया। अरे इस धिनावनी नाक की बात कर रहे हैं अपना पोजीशन, अहंकार इस नाक पर रखा है? सो जब हम नाक में अटक जाते हैं तो प्रभु के दर्शन खत्म हो जाते हैं। जब हम नाक में नहीं अटकते हैं तो प्रभु के दर्शन मिल जाते हैं। ठीक है जब तक नाक की ममता रहती है तब तक भगवान के दर्शन नहीं होते हैं। पर नाक के मायने यह शरीर वाली नाक नहीं, किन्तु उस नाक के मायने हैं अहंकार। जब तक शरीरादिक पर द्रव्यों में और अपनी करतूत में अपने विचारों में अहंकार का भाव रहता है तब तक इस जीव को क्षमता का कुञ्ज ज्ञानानन्द निधान प्रभु स्वरूप का दर्शन नहीं होता क्योंकि उसकी तो पर्याय में बुद्धि अटक गयी। अब भगवान कहा से मिलें।

दुर्लभ समागम का सदुपयोग—भैया! ! जैनधर्म जैसा सुलभ वैभव पाकर अपना यदि इस समागम से कुछ लाभ न उठा सके तो यह तो संसार है, जीव जन्मते हैं, मरते हैं, इसी तरह एक यह भी जन्म मिला और मर गए। लाभ कुछ न लूट सके। मरकर यदि पेड़ हो गए, पक्षी हो गए तो अब क्या करोगे वहाँ? क्या लाभ लूटा इस भव के पाने का और ऐसा उत्कृष्ट श्रावक-कुल पाने का? जैन धर्म जैसे वस्तुस्वरूप को सही बताने वाले दर्शन को पाने का लाभ लूटो, जितना बन सके उतना लाभ लूट लो। वह लाभ क्या है? खूब ज्ञान बढ़ाओ द्रव्यानुयोग, करणानुयोग सभी खूब स्वाध्याय करो और जैसे व्यापार में आप ८ घण्टे का समय व्यतीत करते हो वैसे ही, और नहीं तो २ घंटे तो स्वाध्याय में समय व्यतीत करो।

स्वाध्याय पद्धति—स्वाध्याय करो सरल पुस्तकों का, जिस पुस्तक का स्वाध्याय शुरू करो उसको ही रोज-रोज पढ़ो जब तक समाप्त न कर लो। दो कापी साथ में रखो। स्वाध्याय में जो बात उत्तम लगे उसको एक कापी में नोट कर लो ताकि जब आप चाहें तभी उस सारभूत तत्त्व से लाभ ले सकें। दूसरी कापी में जो आपको शंकायें हों उन शंकाओं को लिखते जाओ। जब कोई योग्य विद्वानों का समागम हो तो उन शंकाओं को उनसे पूछकर दूर करो जैसे धन वैभव अथव परिवार के प्रेम की तृष्णा होती है ऐसी ही तृष्णा लगानी चाहिए ज्ञान के बढ़ाने की, तो यह मनुष्य जीवन सार्थक समझिये। उसी ज्ञान का यहाँ वर्णन चल रहा है कि कैसा ज्ञान करें कि रागादिक भाव मेरे आत्मा से दूर हों।

प्रतिपदवी बन्धच्छेद की परिस्थिति—आत्मा और बंध इन दो को अलग कर देने से मोक्ष होता है, तो उनका अलग होना भिन्न-भिन्न पदवियों में भिन्न रूप से कहा गया है। जैसे सर्व प्रथम आत्मा और विभाव इनका अलग होना ज्ञान दृष्टि से है। ज्ञान से जान लिया कि विभाव औपाधिक तत्त्व है और यह मैं चैतन्यमात्र हू, ऐसा ज्ञान से भिन्न-भिन्न पहिचान लिया इसको भी अलग करना कहते हैं पर अभी परिणमन में अलग नहीं हुआ है परिणमन विभाव रूप से चल रहा है। फिर जैसे-जैसे आत्मसंयम बढ़ता जाता है यह बंध भी वैसे-वैसे अलग होता जाता है, और अन्त में ये विभाव स्वभाव से बिल्कुल जुदे हो जाते हैं। उस समय

इन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। और जब शरीर भी नहीं रहता है तो इन्हें सर्वथा मुक्त कहते हैं तो उस आत्मा और बन्ध को जुदा कर देने वाला साधन है प्रज्ञा। प्रज्ञा के द्वारा आत्मा और बंध इन दोनों को छेद दिया जाये तो नियम से वह अलग-अलग हो जाता है। इस प्रज्ञा को ही भगवती कहते हैं।

भगवती प्रज्ञा—जैसे लोग कहा करते हैं मागने वाले की भगवती तुम्हारी फतेह करे। तो वह भगवती कौनसी है अलग से जो हमारी और आपकी रक्षा कर सकती है? लोगों की दृष्टि में तो कोई भगवान की स्त्री है, पर भगवती शब्द में भगवान शब्द में स्त्रीलिंग का प्रत्यय जरूर जुड़ा है किन्तु भगवान के साथ कोई स्त्री है यह अर्थ नहीं है। भगवतः हयं इति भगवती। भगवान को जो परिणति है उसे भगवती कहते हैं। भगवान की जो स्वरसतः परिणति है उसका नाम भगवती है। जो परिणति भगवान को स्वतंत्र संकट बनाए उस परिणति का नाम भगवती है। वह परिणति है प्रज्ञा, भेद बुद्धि। भेद बुद्धि से ही जीव को विजय प्राप्त होती है।

अत्यन्त प्रत्यासन्न का भेदन कैसे?—अब यह शंका होती है कि आत्मा और बंध ये तो बहुत निकट के तत्त्व हैं क्योंकि आत्मा तो चेतक है और बंध चेत्य है। ये रागादिक विकार भोगने में आते हैं और भोगने वाला आत्मा है। ये रागादिक विकार अनुभवन में आते हैं और अनुभवने वाला आत्मा है। तो इस नाते से आत्मा में और बंध में चेत्य चेतक भाव बना हुआ है। इन्हें न्यारा कैसे किया जा सकता है जब कि ये एकमेक मिल रहे हैं। ये कुछ दो द्रव्यों की चौज नहीं है। स्वभाव के तिरोभूत होने से विभावरूप बन गये हैं फिर इन्हें कैसे छेदा जा सकता है। जैसे पानी जब गरम होता है तो पानी रच भी ठंडा नहीं है, पूरा गरम है, कहते अवश्य हैं कि पानी का स्वभाव ठंडा है, पर जिस काल में वह गरम बन गया है तो ठंडा स्वभाव पूर्ण तिरोहित हो गया है। तो चेत्य चेतक भाव होने से अत्यन्त वे निकट हैं, एक परिणति में हो रहे हैं फिर उनको कैसे भेदा जा सकता है भेदविज्ञान का अभाव होने से एक चेतक की तरह ही उनका व्यवहार हो गया है। शंका में दूसरी बात यह कही है कि जिस काल में यह जीव अपनी परिणति में अपने को अभेदरूप अनुभव कर रहा है तो उसमें यह शक्ति ही नहीं है कि परिणति को और स्वभाव को जुदा समझे फिर आत्मा और बंध को कैसे छेदा जा सकता है।

अत्यन्त प्रत्यासन्नों का भी स्वस्वलक्षण दृष्टि द्वारा भेदन—अब उक्त शंका का उत्तर देते हैं कि इन दोनों का जो नियत अपना-अपना लक्षण है उस लक्षण से इन दोनों में जो सूक्ष्म भीतरी संधि है उस संधि पर लक्षण भेद दृष्टिरूप करौंत को यदि पटका जाये तो उससे ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। जैसे पानी जब गरम हो गया है तो वह समस्त पानी केवल गरमी का अनुभवन कर रहा है। गरम रूप परिणम रहा है फिर ऐसा स्थिति में हम यह कैसे जान सकें कि गरमी अलग है और पानी अलग है। इसके जानने का तो कोई उपाय हो ही नहीं सकता, क्योंकि सारा का सारा पानी गरमरूप बन रहा है। तो जैसे वहाँ यह उत्तर दिया जा रहा है कि गरमी का जो लक्षण है और पानी का जो लक्षण है उस लक्षण भेददृष्टि को उस संधि में डालो, पट को जहाँ गरमी और पानी का मेल हुआ है, अर्थात् पानी का लक्षण है, स्वभाव है ठंडा होना और गरमी का स्वभाव है गरम रहना, इस लक्षण विवेक से उपयोग में वे भिन्न हो जाते हैं।

भैया ! वस्तुतः पानी का न ठंडा स्वभाव है न गरम स्वभाव है । ठंडा भी औपाधिक है और गरम भी औपाधिक है । जैसे किसी ढंडी मशीन में बिजली घर में पानी को रख दिया जाये तो वह पानी बरफ हो जायेगा । तो बरफ हो जाना और इतना अधिक ठंडा हो जाना यह तो पानी का स्वभाव नहीं है । तब पानी का स्वभाव है बहना । लेकिन लोकव्यवहार के माफिक चूंकि जब गरम पदार्थों का सम्बन्ध नहीं रहता है तो पानी स्वयमेव ठंडा हो जाता है । इस कारण पानी के स्वभाव को ठंडा बताया है । गरम हुये पानी के सम्बन्ध में जब लक्षण पर, गुण पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञान में वह भिन्न-भिन्न हो ही जाता है ।

स्वलक्षणदृष्टि द्वारा भेदन का अन्य उदाहरण—जैसे ५ सेर दूध में ५ सेर पानी मिलाकर एक मेल कर दिया तो उसमें यह भेद नहीं किया जा सकता कि इतने हिस्से में तो पानी भरा है और इतने हिस्से में दूध भरा है । दूध और पानी एकमेक हो गये हैं और उस समय दूध हो पियेंगे तो न दूध का शुद्ध स्वाद आयेगा और न पानी का शुद्ध स्वाद आयेगा । दिल ऐसा करेगा कि इस दूध से तो पानी पीना अच्छा है । न उसका स्वाद आता है न उसको क्षेत्र में जुदा-जुदा कर सकते हैं फिर भी ज्ञान द्वारा या यंत्र के उपाय द्वारा ज्ञान करके वहाँ यह समझते हैं कि इसमें आधा पानी है और आधा दूध है । तो यह ज्ञान द्वारा ही समझा । इसी तरह आत्मा में रागद्वेष विकार होते हैं फिर भी इस भेदविज्ञान द्वारा आत्मा को और विकारों को भिन्न-भिन्न समझ सकते हैं ।

प्रज्ञा से बन्धच्छेद—जो विकार है वह आत्मा नहीं है, यह पर उपाधि के निमित्त से होने वाला परिणमन है । इस रूप मैं नहीं हूँ । मैं तो उस रूप हूँ जो अपने ही सत्य के कारण जैसा वर्त सकता हूँ, मैं अपने सत्य के कारण केवल ज्ञानप्रकाश हो सकता हूँ इसलिए ऐसी ज्ञान वृत्ति से बने रहना सो तो मैं आत्मा हूँ, और बाकी विकार मैं आत्मा नहीं हूँ, ऐसी प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी भव्य आत्मा और बंध दोनों का भेदन कर देते हैं ।

प्रज्ञा द्वारा द्वैषीकरण का अन्य उदाहरण—अथवा एक दृष्टांत और लो, बरसात के दिनों में रास्ते में छोटे-बड़े गड्ढे होते हैं उनमें पानी भरा भर है जिन्हें पुखरिया बोलते हैं, उनमें पानी गंदा रहता है, मटमैलासा । उस पानी में यह तो विचार करो कि जैसा वह मटमैला है, जिस रंग का है क्या वैसा मटमैला होना पानी का स्वभाव है? नहीं है । ज्ञानी जानते हैं कि मटमैलापन मिट्टी आदि के सम्बन्ध से हो गया है, पानी का स्वभाव तो स्वच्छ है जैसा कि कहीं स्वच्छ तालाब में निर्मल जल भरा हो, वैसा ही उस पानी का भी स्वभाव है, पड़ा तो है वह गंदा जल, किन्तु ज्ञान द्वारा उस गंदे जल में भी पानी को स्वच्छता नजर आ रही है । इसी प्रकार वर्तमान परिणमन में यह संसारी जीव रागादिक रूप परिणम रहा है, गंदा है मलिन है फिर भी ज्ञान द्वारा इस मलिन आत्मा में भी स्वरूप स्वभाव को परख सकते हैं और वह स्वभाव एक ज्ञायक स्वरूप मात्र है । तब ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का ग्रहण करना प्रज्ञा द्वारा सम्भव हो गया ।

प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेय का उपादान—प्रज्ञा के दोनों काम हैं जुदा-जुदा कर देना और उनमें से जो अपना उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण कर लेना । जैसे चावल सोधते हैं तो सोधने वाले की यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है । कीड़ा हो, धान का

छिलका हो या और भी अनाज हो, घास का दाना हो वह सब गैर चावल है। तो उसे यह ज्ञात है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल हैं तब वह गैर चावलों को अलग करता है और चावल को ग्रहण करता है। इसी तरह अपने आपके आत्मा में जैसा यह ज्ञात है कि यह चैतन्य चमत्कारमात्र तो मैं आत्मा हूँ और बाकी रागादिक विकार अनात्मा है, पर चौज है तब उन पर तत्त्वों को छोड़कर अपने चैतन्य स्वभाव मात्र आत्मा को ग्रहण करता है।

पर की आत्मा से सर्वथा विभिन्नता—यहां वह विचारने की बात है कि मेरे में उत्पन्न हुए रागद्वेष भावों को जब पर बताया गया, छोड़ने योग्य बताया गया, यह मैं नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है, ऐसा उनमें ज्ञान कराया गया तो शरीर तो उससे भी बहुत मोटी चौज है, राग तो आत्मा का परिणमन है, उसे भी जब आत्मा से जुदा कहा गया तो शरीर तो आत्मा का परिणमन भी नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध के निमित्त से शरीरवर्गणावों का यह पिण्ड बन गया पर है यह कोरा जड़, आत्मा का परिणमन नहीं है। तो जब आत्मा के परिणमन होने पर भी रागादिकों को आत्मा से जुदा बताया गया है। तो शरीर तो जुदा है ही, और जब शरीर भी जुदा समझ में आ गया जो कि आत्मा के एक क्षेत्रावगाह में है जिसके बंधन में अभी आत्मा पड़ा है, शरीर जाये तो आत्मा जाये, शरीर पड़ा रहे तो आत्मा पड़ा रहे, कोई अभी ऐसा नहीं कर सकते कि शरीर जुदा है, आत्मा जुदा है सो शरीर तो वहीं पड़ा रहने दे और आत्मा कहीं दूसरी जगह घूम आये और फिर घूम फिर कर शरीर में आ जाये कोई ऐसा तो नहीं कर सकता ना। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी शरीर को जुदा बताया गया है तो परिवार और धन मकान इनकी तो कहानी ही क्या है। शरीर और धन मकान तो आत्मा से प्रकट जुदे हैं। परिवारजन अन्यत्र रहते हैं हम कहीं अन्यत्र रहते हैं धन वैभव मकान अन्यत्र खड़े हैं, हम कहीं अन्यत्र पड़े हैं।

धन वैभव का प्रकट पार्थक्य—मेया ! जब अपने इस शरीर तक से आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, तो धन वैभव से कोई सम्बन्ध का शब्द ही कहना व्यर्थ है किन्तु ऐसा संसारी जीवों में तीव्र मोह पड़ा है कि धन उनका ग्यारहवां प्राण बन रहा है। किसी को वश करना हो तो उसका पैसा दवा लो या जैसे बड़ी जिम्मेदारी की सर्विस खजांची वैगैरह पद पर जब नियुक्ति होती है तो १०-२० हजार की जमानत कर ली जाती है जिससे सरकार को यह विश्वास रहता है कि यह अब गड़बड़ी नहीं कर सकता। तो धन ऐसा ग्यारहवां प्राण बताया गया है। कितनी तीव्र ममता है, स्वयं का जुदा स्वरूप है, न्यारा है, ज्ञानमात्र आत्मा है केवल आत्मा में प्रकाश ही प्रकाश तो है, आनन्द ही आनन्द तो है। अन्य कुछ विकार नहीं है। फिर भी यह मोही जीव बाह्य पदार्थों पर एक छत्र राज्य करना चाहता है। एक तृष्णा के मारे इस सारे संसार को हड़पना चाहता है, किन्तु किसी भी जीव के द्वारा एक परमाणु भी नहीं हड़पा जा सकता है।

भिन्न-भिन्न स्वस्वलक्षण—यह मैं आत्मा सबसे निराला केवल ज्ञानानन्द प्रकाश मात्र हूँ और धन वैभव तो प्रकट जुदे हैं। यह शरीर भी जुदा है ये रागादिक विकार भी जुदे हैं। नियत-नियत जो अपना-अपना लक्षण है उस लक्षण की पैनी परख को संघि पर पटक दें। अर्थात् जिस जगह यह मालूम हो रहा है कि आत्मा और राग एकमेक हो रहे हैं, उस एकमेक के बोध पर जुदा-जुदा लक्षण की दृष्टि कर लें तो वे जुदा

हो जायेंगे । देखो आत्मा का तो लक्षण है चेतन, जो आत्मा को छोड़कर बाकी किन्हीं भी द्रव्यों में नहीं रहता है, द्रव्य की जातियां छः हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । चैतन्यस्वरूप जीव में ही रहता है, पुद्गल में नहीं और अन्य द्रव्यों में नहीं ।

चेतन में चैतन्य का तादात्म्य—चैतन्य जीव के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है । वह चैतन्य स्वलक्षण प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिसको व्याप करके रहता हो और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिसको ग्रहण करके हटकर रहता हो वह सब गुण और पर्यायों का पुंज आत्मा कहलाता है । अर्थात् जिस-जिस आत्मा में चैतन्यस्वरूप पाया जाये वह सब आत्मा है । तो चैतन्यभाव अलग हो जाये तो जीव फिर रहा क्या? जैसे पुद्गल में भी अस्तित्व गुण है और जीव में भी अस्तित्व गुण है सो यह सर्वसाधारण भावरूप अस्तित्व गुण जीव में और पुद्गल में समान हैं और कुछ ऐसे भी गुण हैं जो जीव में ही मिलेंगे, पुद्गल में न मिलेंगे । जैसे ज्ञान, चेतना यह जीव में ही मिलेगी, पुद्गल में न मिलेगी । तो जो चैतन्य चमत्कार स्वरूप हो वह तो मैं आत्मा हूँ और जहाँ चेतने का काम नहीं है वे सब अनात्मा हैं ।

बन्धनों की दुःखरूपता—ये रागादिक बंधन मेरे स्वरूप नहीं हैं, मैं दुःखी हूँ तो रागादिक भावों को अपनाने से दुःखी हूँ । नहीं तो आनन्दमय होना स्वभाव ही मेरा है । अपने आपके घर से निकलकर बाहरी पदार्थों में जो ख्याल बनाए, सम्बंध बनाए, उन बाहरी पदार्थों के समागम से अपना बढ़प्पन माने तो इस भूल के कारण हमें दुःख होता है, अन्यथा दुःखी होने का कोई काम ही नहीं है इस समय यह जीव बहुत बड़े संकट में पड़ा है पुण्य के उदय से थोड़ा कुछ लाभ हो गया हो कुछ सुख सुविधा मिल गयी हो तो इतने मात्र से संतुष्ट मत होओ । इस जीव पर घोर संकट है, शरीर से बंधा है, कर्मों से घिरा है, रागादिक भाव सदा बैचैनी पैदा किया करते हैं । इसको बहुत संकट पड़े हुए हैं । अभी जन्मे हैं अब मरना पड़ेगा, नया-नया जन्म लेना होगा । नया-नया शरीर मिलेगा । तो जगत के जीवों को देख लो—कितनी विचित्र परिस्थितियां हैं । कौनसा इसने आज वैभव पाया कि जिससे हम बड़े संतुष्ट रहें कि पाने योग्य हमने सब कुछ पा लिया ।

कर्तव्य कृत्य—भैया! बहुत काम पड़ा है अभी अपने को अन्तरङ्ग में करने को । वे काम हैं मोह दूर करना, रागद्वेष दूर करना । सो ये काम तो करना दूर रहो, किन्तु उल्टा काम करने लगा । उन वस्तुओं में यह राग करता है, मोह बनाता है और उस मोह से यह अपने को बड़ा मानता है यह बहुत बड़ी भूल है ।

बीच में से कुछ हस्तलिपि गुम हो गई है ।

अपनी सम्भाल अत्यावश्यक—भैया ! अपने को सम्भालें तो सब संभलेगा और अपने को न सम्भाला तो सब बिगड़ गया । घर में कोई विपत्ति आ जाये, इष्ट वियोग हो जाये और घर में जो बड़ा है, समझदार है वही दुःखों के मारे बेकाबू हो जाये तो घर वालों को फिर ठिकाना नहीं है । घर का प्रमुख यदि विपत्ति में सम्भला रहेगा तो घर वाले भी सम्भल सकेंगे, उनका भी ठिकाना रहेगा । सो हमारे घर का प्रमुख जो उपयोग है वह संभला हुआ रहेगा तो सब काम ठीक से होंगे । हमारा एक मात्र प्रमुख है उपयोग । और सब तो ज्ञानस्वभाव की रक्षा के लिए और सत्त्व बनाए रखने के लिए सेवकरूप गुण है । अच्छा, बताओ—आत्मा को सूक्ष्म गुण की क्या जरूरत थी? सूक्ष्मत्व न होता तो ज्ञान का रूप क्या बनता? पुद्गल जैसी स्थूल होने

से कोई ज्ञान की सकल क्या बन पाती ? सूक्ष्मत्वगुण ने ज्ञान की सेवा की । इसकी सत्ता बनी रहने दी । इसी तरह सूक्ष्मत्व ही नहीं, सारे गुण इस ज्ञानस्वभाव की रक्षा के लिए है ।

भावबन्धच्छेद होने से द्रव्यबन्धच्छेद और फिर देहबन्धच्छेद की अवश्यंभाविता—यों समझिये । जब यह योगी रागद्वेष रहित निर्विकल्प स्वसम्बेदन ज्ञान में रत होता है उस समय द्रव्य कर्म का छिदना होता है और छिद-छिदकर जब द्रव्य कर्म का सहारा नष्ट हो गया तो यह शरीर अपने आप अपनी ही वर्गणावों में शुद्ध होकर विघट जाता है । कठिन चर्चा है यह, किन्तु ध्यान वृत्ति से सुनने और समझने वाले श्रोतावों की मुद्रा देखने से अथवा कदाचित वक्ता के संकेत देखने से कुछ अनुमान होता है, चीज कहां की, किस प्रकार की कहीं जा रही है ।

निर्विकल्प ज्ञान के सम्बन्ध में एक प्रश्नोत्तर—यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि जो तुमने बनाया निर्विकल्प स्वसम्बेदन ज्ञान, यह तो हमारे घट में नहीं उतरा । निर्विकल्प ज्ञान तो बौद्ध लोग भी बतलाते हैं और बौद्धों के निर्विकल्प ज्ञान में तुम यह दोष देते हो कि बौद्धों का ज्ञान है तो निर्विकल्प अगर विकल्प को उत्पन्न करने वाला होता है । मगर तुम जैन सो उनसे भी बढ़कर अनिष्ट में पहुंच गये कि तुम्हारा निर्विकल्प ज्ञान तो स्वरूप से ही सविकल्प है, उनका निर्विकल्प ज्ञान स्वरूप से तो निर्विकल्प है । विकल्प तो पैदा करता है । किन्तु है जैनाचार्य तुम्हारा निर्विकल्प तो स्वरूप से ही सविकल्प है । फिर उस ज्ञान पर इतना नखरा क्यों किया जाता है? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह निर्विकल्प स्वसम्बेदन ज्ञान जिसको हम निर्विकल्प स्वरूप का गौरव दे रहे हैं वह कथश्चित् सविकल्प तो है, फिर भी कथश्चित् निर्विकल्प है ।

एक ही बोध में निर्विकल्पता व सविकल्पता की सिद्धि में एक लौकिक उदाहरण—जैसे किसी विषय का आनन्द भोग रहे हो—मान लो बहुत बढ़िया रसगुला आपने बनवाया या खुद बनाया, अच्छा सेका, धी भी खूब डाला, बूरा भी आटे से ज्यादा नहीं डाला और जब खाने बैठे उसका पूरा आनन्द लूटना चाहते हो तो हाथ पैर टन्नाकर केवल एक धुन में ही उनको खा लेते हो । उस स्वाद का एक रस लेते समय वह ज्ञान निर्विकल्प हुआ या सविकल्प? एक दृष्टि से तो निर्विकल्प हुआ कि सिवाय भोजन का आनन्द लूटने के और कोई चीज का ख्याल नहीं कर रहे । मगर भोजन के आनन्द के लूटने में जो क्षोभ है अन्तर में वह तो विकल्प है ही ।

उदाहरणपूर्वक प्रकृत ज्ञान में निर्विकल्पता व सविकल्पता की सिद्धि—तो जैसे वह विषय का आनन्द कथश्चित् सविकल्प है और कथश्चित् निर्विकल्प है । स्वसम्बेदन ज्ञान की अपेक्षा से सरागस्वसम्बेदन होने से सरागसंवेदन के विकल्परूप से विकल्प तो बड़ा मचा हुआ है फिर भी उस आनन्द के क्षोभ के विकल्प को छोड़कर अन्य कोई विकल्प की चाह नहीं है । कोई सूक्ष्म विकल्प हैं उन पर दृष्टि ही नहीं है । तो सूक्ष्म विकल्प पहिले से अन्तर में मौजूद है, संस्कार भरे है । कहीं योगी नहीं हो गए हलुवा या रसगुला खाने से उसके भीतर तो हजारों विकल्प पड़े हैं मगर वह भक्ष्य बन गया, दब गया, उपशांत है । भाव में छिपी हुई आग की तरह भीतर ही भीतर सुलग रही है, किन्तु मोटे रूप में अनुभवन के रूप में वह निर्विकल्प है और वस्तुतः सविकल्प है । उन विकल्पों की वहाँ मुख्यता नहीं ली जा रही है, इसलिए निर्विकल्प कहा जाता है ।

निर्विकल्पता व सविकल्पता का विवरण—अब यह विषय दो मिनट बाद दो चार मिनट को सरल आया जाता है, फिर समाप्त होने वाला है। तो जिस ही कारण हमें अपने स्वसम्बेदन के आकार का मुख्य प्रतिभास है, उस निर्विकल्प स्वसम्बेदन ज्ञान को ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान है; सो ज्ञान के स्वरूप का आकार वह ज्ञान परिणम गया। अब हम आपसे कि उसमें क्या आकार बन गया तो बता नहीं सकते और आकार बना है। बना है ज्ञान के स्वरूप का आकार। सो ज्ञान के आकार का मुख्यतया प्रतिभास होने पर भी अर्थात् इस दृष्टि से स्वसम्बेदन ज्ञान सविकल्प होने पर भी बाह्य विषय सम्बन्धी अनिहित सूक्ष्म विकल्प है तो भी उसकी मुख्यता नहीं है। यहाँ मुख्यता है आत्मस्वसम्बेदन की ओर उस आत्मस्वसम्बेदन के समय भी अनेक योग्यतायें हैं। सो अनेक विकल्प पड़े रहने पर भी मात्र ग्रहण सम्बन्धी, रागद्वेष सम्बन्धी नहीं, फिर भी उसे निर्विकल्प कहते हैं और कथश्चित् सविकल्प कहते हैं।

त्रिविधबन्धच्छेद का एक उपाय होने का समर्थन—प्रयोजन यह है कि हमारा ज्ञान-ज्ञान के स्वरूप को जानता हुआ जब स्थिर होता है तो उस स्वसम्बेदन ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि द्रव्यकर्म का छेदन स्वयं हो जाता है। तो तीनों बंधनों के छेदने का उपाय केवल एक है—भावकर्म रूपी बंधन का विदारण करना। सो इस विषयक ज्ञान हो जाने पर भी यदि ऐसे ज्ञान की स्थिरता रूप चारित्र नहीं बनता है तो मोक्ष नहीं होता है। इसी को कहते हैं बंध का छेदना। बंधछेद से मुक्ति है, न बंध के स्वरूप के ज्ञान से मुक्ति है और न बंध कैसे मिटे, ऐसी चिंता करने से मुक्ति है। अतः कल्याणार्थी जनों को इन बाह्य समागमों को असार जानकर वैभव, धन, परिवार, इज्जत इनको अपना दिल न बेच देना चाहिए।

समर्पण—भैया ! अपना दिल समर्पण करो तो केवल एक निजज्ञायकस्वरूप को समर्पण करो और इसके ही समर्पण के हेतु पंचपरमेष्ठी भगवान को अपना मन समर्पण करो। अपना मन बेच दो, लगावो, सौंधो तो केवल दो ही स्थानों को पंचपरमेष्ठी को या आत्मस्वरूप को। तीसरी कौनसी चीज है जिसको अपना दिल दिया जाये, अपना उपयोग सौंपा जाये ? और जिन जगत के जीवों को दिल दिया जा रहा है तो समझो कि यह मेरे करने का काम नहीं है। यह तो कर्मों के उदय के डंडे लग रहे हैं। सो सर्व यत्न पूर्वक अपने आपके आत्मज्ञान की ओर आएँ और इस ही विधि से बढ़ने का यत्न करें, ये सारी चीजें तो अपने आप छूटेंगी।

प्रज्ञा का कार्य—ज्ञानी जीव बंधों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को यथार्थ जानकर बंधों में अनुरागी नहीं होता, रागादिक विभावों में रुचि नहीं करता। यही पुरुष निर्विकल्प समाधि के बल से राग न करने के कारण कर्मों से छूटता है। बंधों को और आत्मा को भिन्न पहिचानने का साधन प्रज्ञा है, और बंध को हेय करके आत्मस्वभाव को उपादेय करना यह भी प्रज्ञा का काम है और विभावों में राग न करना, स्वभाव के उन्मुख होना यह भी प्रज्ञा का कार्य है, इस तरह प्रज्ञारूपी छेनी से ये कर्म और आत्मा भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जीव का लक्षण तो केवल चैतन्य है, शुद्ध चैतन्य।

शुद्धपना—अध्यात्मशास्त्र में तथा अध्यात्मयोग के वर्णन करने वाले प्रकरण में जहां-जहां शुद्ध शब्द आवे, वहाँ रागद्वेष रहित ग्रहण न करना किन्तु केवल अपने स्वरूपमात्र इतना ग्रहण करना। यह जीव

वर्तमान में अशुद्ध है, रागादिक कर सहित है। तथा कोई भी जीव किसी परद्रव्य का आश्रय नहीं कर सकता। द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है कि अपना ही आश्रय अपना ही आलम्बन, अपना ही परिणमन करता है ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञात होने पर जिज्ञासा यह होगी कि यह वर्तमान में तो अशुद्ध है सो अशुद्ध के आलम्बन से सिद्धि क्या और पर का आश्रय कर ही नहीं सकता फिर सिद्धि का उपाय क्या होगा? यह जिज्ञासा और स्पष्ट रूप से बताई जायेगी।

पर के द्वारा पर का राग असंभव—यहां लौकिक व्यवहार की बात में वास्तविकता भी जरा निर्णय कर लें जैसे कि यह कथन उपचार से है कि अमुक मनुष्य ने अमुक मनुष्य से राग किया। कोई मनुष्य किसी दूसरे पर कुछ राग कर ही नहीं सकता किन्तु उसने उस दूसरे मनुष्य के बारे में रागपरिणाम का विकल्प किया, इस कारण कहा जाता है कि इस मनुष्य ने अमुक से राग किया। वस्तुतः उसने अपने से राग किया, अपना परिणमन किया। कोई जीव किसी दूसरे जीव का आश्रय नहीं कर सकता।

पर की भक्ति कैसे—हम लोग जो कहते हैं कि हम भगवान की भक्ति करते हैं तो हम लोग भगवान की भक्ति कर ही नहीं सकते। करते क्या हैं कि भगवान को अपने उपयोग में विषय बनाकर अपने आपके गुणों का परिणमन किया करते हैं। और उस अपने गुणों के परिणमन को चूँकि उस परिणमन का विषय भगवान बनाते हैं इसलिए कहते हैं कि हम भगवान की भक्ति करते हैं। तो हम पर का तो आश्रय कर नहीं सकते और वर्तमान में है अशुद्ध, आश्रय हम अपना ही कर सकते हैं। अब यह बताओ कि जैसे हम वर्तमान में अशुद्ध है ऐसी स्थिति का आश्रय करके मोक्ष मार्ग मिल सकता है क्या? कभी नहीं मिल सकता है। जो सिद्ध हो चुके हैं ऐसे भगवान का हम आश्रय कर नहीं सकते और हम हैं अशुद्ध, सो अशुद्ध का आश्रय करके कल्याण पा नहीं सकते।

निज सहज शुद्ध स्वरूप के अवलम्बन के मोक्षमार्गपना—भेया! अब क्या उपाय रहा कि हम संसार से तिर सकें और मोक्ष मार्ग में लग सकें? यहां उपाय यह है कि हम परिणमन से तो शुद्ध नहीं है किन्तु अपने स्वरूप को तो लिए हुए हैं। तो जो केवल मेरा सहज स्वरूप है उसका आश्रय करें। सहज स्वरूप का नाम है शुद्ध स्वरूप। शुद्ध स्वरूप का अर्थ है केवल, प्यौर, एलोन, एकाकी। परपदार्थ जितने हैं वे भी अपने आपकी ओर से शुद्ध हैं और हम सब भी जितने हैं अपने आपकी ओर से शुद्ध हैं। शुद्ध का अर्थ केवल अपने स्वरूप को लिए हुए है। उस स्वसम्बेदित अपने आपके सत्त्व के कारण जैसा सहजस्वरूप वाला हूँ उस पर दृष्टि देने से मोक्षमार्ग मिलता है। तो अपने ही अन्तर में बसे हुए शुद्ध आत्मतत्त्व के आलम्बन से मोक्षमार्ग मिलता है।

किसी भी परिणमन के वस्तुस्वरूपत्व का अभाव—जीव का लक्षण है शुद्ध चैतन्य। और बंध का लक्षण है मिथ्यात्व रागादिक। जब लक्षणों की बात चलती है तब आत्मा का लक्षण सर्वज्ञपना भी नहीं है। सर्वज्ञता जीव का लक्षण होता तो अनादि से जीव के साथ होता। सर्वज्ञता तो प्रतिक्षण नव्य-नव्य परिणमन कर रही है। यद्यपि सर्वज्ञता के बाद सर्वज्ञता ही आती है और इस ही शुद्ध परिणमन की परम्परा अनन्त काल तक रहेगी। फिर भी जो एक समय का सर्वज्ञता रूप परिणमन है वह सर्वज्ञत्व परिणमन दूसरे समय में

नहीं होता ।

सदृश परिणमन में प्रतिक्षण कार्यशीलता का एक दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष १० सेर वजन को हाथ के ऊपर एक घंटे तक लादे हुए है, देखने में ऐसा लगता है कि एक मुद्रा से स्थिर होकर उस १० सेर वजन को घंटे भर से लादे हुए वह खड़ा है, देखने वालों को यों दिखता है कि बेकार खड़ा है, यह कुछ भी काम नहीं कर रहा है । जो एक घंटे पहिले किया वैसा ही बना हुआ है, कुछ काम नहीं कर रहा है, किन्तु बात ऐसी नहीं है । वह प्रतिक्षण काम कर रहा है । जो ८ बजे वजन लादे हुए में अपनी शक्ति लगा रहा है ऐसी शक्ति लगाने का परिणमन उस ८ बजे के समय हो गया, अब ८ बजकर पहिले समय में दूसरी शक्ति लग रही है । यों प्रत्येक सेकेण्ड वह नवीन-नवीन शक्ति के उद्योग से दिखने में आने वाला वही सदृश कार्य कर रहा है ।

प्रभु की निरंतर शुद्धपरिणमनशीलता—इसी प्रकार सर्वज्ञदेव ने जो पहले समय में जाना वह पहिले समय की शक्ति लगाकर जाना । दूसरे समय में जो जाना वह दूसरे समय में नवीन शक्ति लगाकर जाना । प्रति समय नवीन-नवीन शक्ति का उपयोग चल रहा है और दिखने में यों आता कि प्रभु क्या नया काम कर रहे हैं ? कुछ भी तो नहीं करते । जो पहिले समय में जाना वही इस दूसरे समय में जान रहे हैं । प्रत्येक पदार्थ की सीमा अनुलंघ्य होती है । पदार्थ का जो स्वरूप है वह स्वरूप कभी भी किसी के द्वारा मिटाया नहीं जा सकता ।

निज सहजस्वरूप का आलम्बन—इस अध्यात्मयोग के प्रकरण में यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूप का आलम्बन करें कि हमें मुक्ति का मार्ग मिले । जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नहीं सकते । हमारे आश्रय किए जाने वाले गुण परिणमन का विषय तो प्रभु बन गया है पर आश्रय नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सत्त्व जुदा है । एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का आलम्बन नहीं कर सकता, स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, तब निज सहजस्वरूप आलम्बन ही हित है ।

अन्य पर रागपरिणमन का अभाव—लोकव्यवहार में कहा करते हैं कि हमारा तुम पर बड़ा अनुराग है, यह बात सोलह आने झूठ है । प्रथम तो लोकव्यवहार के नाते से भी निश्चल अनुराग नहीं है, सब अपने स्वार्थ के कारण अनुराग दिखाते हैं और अन्तर में वस्तुस्वरूप की दृष्टि से देखो तो कोई धर्मात्मा पुरुष भी किसी दूसरे धर्मात्मा पुरुष पर निश्चल अनुराग कर रहा है तो यह सब भी उपचार कथन है । वह धर्मात्मा तो अपने गुणों की सेवा कर रहा है । अपने ही गुणों की उपासना दूसरे धर्मों को विषय बनाकर प्रकट हो रही है ।

मुझमें शुद्ध तत्त्व—तब मुझमें यह शुद्ध तत्त्व क्या है? जिसका आलम्बन करके मैं अब भव सागर से तिर सकूँगा । वह शुद्ध तत्त्व वह है कि यदि शुद्ध तत्त्व की ही खबर रहे, उसकी ही उपासना हो तो जगत् में फिर अद्वैत नहीं दिख सकता । कोई दूसरा भी है, कोई व्यक्ति भी है यह उस स्वरूप में नजर नहीं आता । और ऐसे उस अद्वैत चैतन्यस्वरूप की शुद्ध उपासना बंध को छेदने वाली होती है, किन्तु इस अद्वैत चैतन्यस्वरूप का वर्णन करते और सुनते हुए भी यह न भूल जाना कि यह अद्वैत चैतन्य-स्वरूप अर्थ क्रियाकारी नहीं है, अर्थ क्रियाकारी तो स्वरूपास्तित्व सम्पन्न द्रव्य होता है ।

अर्थक्रियाकारिता पर एक दृष्टान्त—जैसे आपको दूध चाहिए तो गऊ जाति में दूध न मिलेगा। दूध तो किसी गऊ से मिलेगा। जाति समस्त गऊवों के स्वरूप साम्य का नाम है। उस स्वरूप साम्य रूप ज्ञानगत गऊ सामान्य से दूध न मिलेगा। दूध मिलेगा व्यक्तिगत गऊ से। इसी प्रकार अर्थक्रिया परिणमन होता है। वह प्रत्येक आत्मा में होता है, प्रत्येक आत्मावों का जो स्वरूप साम्य है वह है अद्वैत। एक सामान्यस्वरूप भेद न किया जा सकने वाला, ऐसी है वह अद्वैत चेतना। वह जीव का शुद्ध लक्षण है और मिथ्यात्व रागादिक विभाव बंध के लक्षण है। सो प्रज्ञारूपी छेनी के द्वारा उन दोनों को पृथक् कर देते हैं।

निर्लेपता का धन्यवाद—उस आत्मा का सुभवितव्य है जो आत्मा धन या वैभव मकान आदि के कपड़े में उपयोग न फँसाकर गृहस्थ हो तो क्या उन सबके बीच रहने पर भी उनमें उपयोग न फँसाकर जल में कमल की भाँति जल से दूर अलिस रहकर जो अपना अतःस्वरूप है ऐसे शुद्ध चैतन्य की किसी क्षण उपासना करे तो वही पुरुष धन्य है, पूज्य है, वंदनीय है। ऐसे शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप भेद विज्ञान से प्रज्ञारूपी छेनी से, आत्मस्वभाव और बंध स्वभाव इनको भिन्न कर दिया जाता है। इस तरह जो सावधान पुरुष है उनके द्वारा किसी प्रकार यह प्रज्ञा छेनी इसके स्वभाव और विभाव में डाल दी जाती है।

सावधानता—सावधान किसे कहते हैं? स+अवधान। जो अवधान सहित है उसे सावधान कहते हैं। अवधान का अर्थ है अपने आपमें समस्त रूपों से अपने आपको धारण करना। ऐसे अवधान सहित जो पुरुष हैं ऐसे लोग ही निपुण ज्ञानी संत प्रज्ञा-छेनी से जो कि अत्यन्त तौक्षण्य है, किसी प्रकार इस स्वभाव और विभाव का जो सूक्ष्म संधिबंध है उस पर डालते हैं और शीघ्र ही आत्मा और कर्म इन दोनों को भिन्न कर देते हैं।

कर्म की सार्थकता—कर्म नाम है आत्मा के रागद्वेष आदि का। आत्मा में रागद्वेषादिक का निमित्त पाकर कोई पुद्गल कर्म, पुद्गल वर्गणाएँ इसके साथ बैंध गयी और उसके निकलने का निमित्त पाकर जीव फिर रागादिक विभाव कर बैठता है। इस कारण उन पौद्गलिक वर्गणावों का नाम कर्म उपचार से रखा है। कर्म नाम वास्तव में आत्मा के विभाव का है। आत्मना क्रियते यत्तत् कर्म, जो आत्मा के द्वारा किया जाये उसका नाम कर्म है। आत्मा के द्वारा पौद्गलिक वर्गणाएँ नहीं की जाती हैं इसलिए उनका नाम कर्म नहीं है। कर्म नाम है आत्मा के रागादिक विभावों का। सो इस तौक्षण्य प्रज्ञा-छेनी के द्वारा आत्मा में और कर्म में भेद कर दिया, तब यह आत्मा को अंतरङ्ग में स्थिर और चैतन्य प्रकाश में मग्न कर देती है।

प्रज्ञा का प्रभाव—यहीं प्रज्ञा पहिचान कराती है, यहीं भेद कराती है और वही अपने स्वरूप में स्थिर कराती है। देखो तो इस भेदविज्ञान की उपयोगशीलता कि यह भेदविज्ञान इस आत्मा को उत्कृष्ट अवस्था में पहुंचाकर खुद मर मिटता है। भेदविज्ञान सदा बना रहे तो आत्मा का कल्याण नहीं है, भेदविज्ञान पहिले हैं और पीछे निज की अभेद उपासना चाहिए। ऐसा यह भेदविज्ञान इस आत्मा को उत्कृष्ट पद में धारण कर खुद मर मिटता है। ऐसा परोपकारी है भेदविज्ञान। जैसे कोई परोपकारी पुरुष अपनी जान देकर दूसरे को बचा दे तो उसे बड़ा परोपकारी माना है। इसी प्रकार यह भेदविज्ञान इस आत्मा का यथार्थ परिचय कराकर हेय से हटाकर अभेद में लगाकर खुद मर मिटता है और इसी कारण आचार्यदेव ने भेदविज्ञान शब्द न देकर

और उत्कृष्टता बताने के लिए प्रज्ञा शब्द दिया है जो हमारे साथ शुरू से अंत तक रह सकता है ।

प्रज्ञा का प्रसाद—इस प्रज्ञा का नाम भगवती प्रज्ञा है । भगवती प्रज्ञा फतह करे मायने विजय करे । इस भगवती प्रज्ञा का पूर्वरूप तो भेदविज्ञान का होता है, फिर इस भगवती प्रज्ञा का और तेजस्वीरूप बढ़ाते हैं तब इसका ऐसा प्रचंड तेज रूप बनता है कि रागादिक को भक्षण करके निज देव को उपास्य बनाती है । फिर और उसका प्रचंड तेज बढ़ता है । भगवती प्रज्ञा तब उस तेज में अपने आपको समस्त विकल्पों से हटाकर निर्विकल्प वीतराग स्वसम्बेदन ज्ञान परिणत बना देती है । इस भगवती प्रज्ञा का प्रारम्भ से लेकर अंत समय तक उसका असीम उपकार है । वह प्रज्ञा स्पष्ट प्रकाशमान तेज वाले चैतन्य के प्रवाह में प्रज्ञ को मग्न करती है ।

प्रज्ञा का प्रचण्ड निर्णय—भैया ! यह है अपने कल्याण की बात । यहाँ धर्म जाति कुल आदि सारे नटखट है और किसी बात की धुन न होना चाहिये अन्यथा ये सब अटक बन जायेंगे । इस समय समस्त आवरणों को फाढ़कर अपने आपके स्वरूप में मग्न करने का वर्णन है । तब यह प्रज्ञा अपने इस आत्मदेव को तो चैतन्य महातेज में मग्न कर देती है और रागादिक भावों को अज्ञान भाव में निश्चल कर देती है । अर्थात् पहिले तो ये रागादिक चिदाभास दिखते थे । न हो चैतन्य किन्तु चित् का आभास तो हैं रागादिक क्योंकि रागादिक अचेतन में नहीं होते, चेतन में होते हैं, और चेतन के स्वभाव से नहीं होते, इस कारण उन्हें चिदाभास कहा जाता था किन्तु अब इस प्रज्ञा ने अपने आपको अपने तेज में झुबाकर उन रागादिक भावों को अज्ञान भाव में ही निश्चल कर दिया है । अब वहाँ चिदाभास जैसी दृष्टि नहीं रहती है ।

प्रज्ञा का प्रचण्ड रूप—भैया ! बन्धन टूटता है तब सम्बन्ध की लगार नहीं रहना चाहिए । अगर लगा रहे तो दो टूक बात कहाँ हुई ? आत्मा के चैतन्यस्वरूप में और रागादिक विभावों में जब भिन्नता की जा रही है, अत्यन्त पृथक् किया जा रहा है और निर्भयता के साथ रागादिक से मुख मोड़कर केवल चैतन्य तेज में प्रवेश किया जा रहा है उस समय यह ध्यान बाधक है कि रागादिक चिदाभास है, चैतन्य में ही तो होता है, और इतने ख्याल को भी यहाँ त्यागना पड़ता है ।

प्रज्ञा के साम्राज्य का शासन—यहाँ प्रज्ञा भगवती के राज्य में अपने-अपने समय के अनुसार शासन चल रहा है । या चिदाभास, किन्तु उस समय जब कि इस भगवती प्रज्ञा का प्रचण्ड तेज सीमाति अन्त था सीमा के अन्त में नहीं पहुंच रहा था तब की बात थी यह कि रागादिक चिदाभास है । जब यह भगवती प्रज्ञा अपने प्रचण्ड तेज के कारण अपने आपके आधार को, प्रियतम को जब चैतन्य महा तेज में मग्न कर रही है उस समय रागादिक भावों के किसी भी सहूलियत सुविधा या पुरानी दोस्ती के कारण किसी भी प्रकार उन्हें चैतन्य की वृत्तियों में शामिल नहीं किया जा सकता ।

आत्मकार्य का अभिन्न साधन—इस तरह आत्मा और बंध का भिन्न-भिन्न करने रूप जो कार्य है, उसका करने वाला आत्मा है । अपने कार्य को करने का साधन अपने ही स्वयं हो सकते हैं । तब किसके द्वारा यह भिन्नता रूप कार्य किया गया ? वह है आत्मा का ही विज्ञान साधन । ज्ञान का ज्ञान के द्वारा ज्ञान

और अज्ञान में भेद कराकर अज्ञान को छोड़कर ज्ञान को अपनाकर ज्ञान में ही मग्न हो गया, ऐसे इस अभिन्न ज्ञान साधन के द्वारा परिचय से लेकर मग्न करने तक समस्त कार्यों को इस ही प्रज्ञा ने अथवा ज्ञान ने किया। तब कर तो रहे योगी अपने में अपना काम और यहां अगल बगल में देखा तो कर्मों का छिदना, निःसार, अशरण बन जाना, ये सब काम हो रहे हैं पर उसकी योगी को खबर नहीं है।

मोक्षमार्ग में साधक की आत्मवृत्ति—इस अध्यात्मयोगी के ज्ञानयोग के बल से वहाँ प्रकृतियों का छेद-छेद हो रहा है, और हो चुकने के बाद यह शरीर भी अंत में कपूर की तरह बिखर जाता है, किन्तु यह प्रभु अपने आपके ज्ञान साधन में और आनन्द के अनुभव में ही तन्मयता से परिणत है। यों यह योगी पुरुषार्थ के बल से आत्मा और बंध को भिन्न कर देता, विदारण कर देता और फिर यह अपने आपको मोक्ष स्वरूप में ले जाता। ये सब बातें सबकी हैं। हम आप सब कर सकते हैं और उसको करने के लिए इन सब समागमों को तुच्छ मानें और मोह में न अटके, इन समागमों से विपत्ति माने तो इस पुरुषार्थ में हम सफल हो सकते हैं।

चैतन्यात्मक आत्मा को और अज्ञानमय रागादिक को दो भागों में करके अब क्या करना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर दिया जा रहा है।

गाथा २९६

कह सो घिष्ठ अप्पा पण्णाए सो उ घिष्ठ अप्पा ।

जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ॥२९६॥

बन्धच्छेद और आत्मोपादान—अपने-अपने नियत लक्षणों के द्वारा प्रथम तो जीव और बंधन का भेद किया जाता है, अथवा जैसे उपाधि के समक्ष रखे हुए प्रतिबिम्ब में जो उपाधि के अनुरूप छाया से चित्रित है वहां दर्पण के लक्षण और औपाधिक छाया का लक्षण जानकर वहाँ भेद किया जाता है। इसी प्रकार इस चैतन्यस्वरूपी आत्मा में और उपाधिजनित रागादिक विभावों में उनके निज-निज लक्षण के द्वारा भेद किया जाता है। सो प्रथम तो आत्मा और बंध में छेदन कर देना चाहिए और फिर शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिए।

प्रज्ञा का आदिमध्यान्त चमत्कार—उपयोग द्वारा आत्मा का और बंध का द्वेधीकरण पहिले तो श्रद्धामूलक होता है, पश्चात् अंतःसंयम के द्वारा इस रागादिक से आत्मा को कुछ भिन्न किया जाता है और अंत में रागादिक से आत्मा को सर्वथा निवृत्त कर लिया जाता है। इस प्रारम्भिक माध्यमिक और अन्तिम हित में सब इस प्रज्ञा का ही चमत्कार है। जिस प्रज्ञा द्वारा प्रारम्भिक स्थिति में बंध से आत्मा को भिन्न किया गया है। इसी प्रज्ञा द्वारा भिन्न किए गए आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। भोजन बनाकर रख दिया। क्यों बनाया भोजन? उसका प्रयोजन तो खाना है। इसी प्रकार आत्मा का और रागादि भावों का द्वेधीकरण किया है, किन्तु क्यों किया गया द्वेधीकरण? इसका प्रयोजन तो भिन्न किए गए शुद्ध आत्मा का ग्रहण कर लेना है।

योजना और प्रयोजन—जैसे कोई महिला भोजन तो सबको बनाती जाये और स्वयं कुछ न खाये तो उसे लोक में क्या कहेंगे ? अथवा कोई घर का मालिक भोजन बनाता जाये, पूर्ण करके रख ले, बस भोजन बनाने के लिए उसने बनाया, उपयोग उसका कुछ न करे तो ऐसी बेढ़ंगी प्रवृत्ति वाले को कौन बुद्धिमान् कहेगा? इसी प्रकार आत्मा और शरीर को भिन्न समझने का प्रयोजन है शरीर को भूल जावो और आत्मा को ही लक्ष्य में लो, रागादिक भावों से सहज चैतन्यस्वरूप निज आत्मा से भिन्न जानने का प्रयोजन है कि रागादिक को भूल जावो, उस ओर दृष्टि ही न दो और शुद्ध ज्ञान प्रकाशमात्र चैतन्यस्वरूप को उपयोग में लो । भेद विज्ञान का प्रयोजन यह ही है कि रागादिक बंधों से आत्मा को भिन्न जानकर इस शुद्ध आत्मा का ही ग्रहण करना चाहिए ।

रत्नत्रयमयी प्रज्ञा—जिस परिणति के द्वारा रागादिक रूप बंध छेदा जाता है वह परिणति है निश्चयरत्नत्रय स्वरूप ज्ञानवृत्ति की परिणति । केवल चेतना जिसका स्वभाव है, अपने सत्त्व के कारण स्वरसतः जानन देखन ही जिसका स्वभाव है ऐसे स्वभावमय परमात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान करना अर्थात् रुचिपूर्वक हित की दृष्टि रखकर उस परमात्मस्वभाव को लक्ष्य में लेना और परमात्मतत्त्व का ज्ञान करना, उपयोग भी फिर अन्यत्र न लगाना और इस ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मा के ज्ञान में ही निरत रहना, यही है निश्चयरत्नत्रय । इस निश्चयरत्नत्रय के परिणमन से आत्मा से बंध को अलग कर दिया जाता है ।

आत्मपरिचयपद्धति—भैया ! किसी चीज को समझने की तरकीब जिस प्रकार समझी जाती है उस प्रकार करने से होती है । जैसे सुगंधित फूल का गुण समझने के लिए आंख समर्थ नहीं है, उसे तो नासिका द्वारा सूंघ कर ही जाना जा सकता है कि यह फूल बहुत गुणों वाला है । जब कोई आपसे कहे बांस वाली मिश्री का डला दिखाकर कि भाई देखो तो जरा इस मिश्री की डली को । तो आप तुरन्त ही डली को उठाकर मुँह में रख लेंगे । फिर वह जरा भी लड़ाई न करेगा कि वाह हमने तो तुम्हें देखने के लिए कहा था, तुमने तो मुँह में रख लिया । क्योंकि वह जानता है कि खाने की चीज का देखना मुँह के ही द्वारा होता है, आंख द्वारा नहीं होता है । इसी प्रकार आत्मा के सहजस्वरूप का परिचय वाणी के द्वारा नहीं होता । आत्मा के सहजस्वरूप का परिचय अन्तर में ज्ञान में लक्ष्य किए जाने पर होता है । जब यह ज्ञान और जिस लक्ष्य में लिया जा रहा है वह ज्ञानस्वरूप जब ज्ञाता ज्ञेय बनकर एकरस हो जाता है तब आत्मा के स्वरूप का वास्तव में परिचय मिलता है । वाणी से, शब्दों से, संकेतों से परिचय नहीं मिलता है ।

संकेत और संकेतित—जैसे कोई वैद्य शिष्य को जंगल में औषधियां बताने जाये, एक फुट भर का छोटासा बेंत लेकर और वह बेंत से इशारा करके बताये कि यह अमुक चीज की औषधि है, यह अमुक चीज की औषधि है तो शिष्य को गुरु के बेंत को न देखते रहना चाहिए क्योंकि उसका बेंत औषधि नहीं है । औषधि तो अन्यत्र है, बेंत द्वारा संकेत की जाने वाली दिशा की ओर जाये, बेंत पर नहीं जाना है । इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप का परिचय कराने वाले शब्दों पर न जाना, ये शब्द जिस ओर को संकेत करते हैं उन शब्दों को सुनकर **खुलकर** उस लक्ष्य में लेना यह उपाय है । आत्मा के परिचय करने का जो यह उपाय कर लेता है यह तो आत्मज्ञानी बनता है और जो केवल शब्दों में अटकता है वह आत्मज्ञानी नहीं

हो सकता ।

शब्दों में अटकने के कारण—भैया ! शब्दों में अटकने के दो कारण होते हैं एक तो अज्ञान और एक मोह । यद्यपि अज्ञान और मोह बात एक ही है फिर भी उस एक मिथ्यात्व परिणमन में ज्ञान की कमी का अंश लेकर तो अज्ञान कारण बताया है और परभावों में अपनी प्रतिष्ठा रखने के परिणाम का अंश लेकर मोह को बताया है । लोग शब्दों में अटक जाते हैं और शब्दों के विवाद में रह जाते हैं । उसका मुख्य कारण किसी को तो अज्ञान बनता है । उन शब्दों का जो वाच्य है उस स्वरूप को न जान पाया, सो शब्दों में ही अपना बड़ा बल लगा रहा है । और एक ऐसा जीव है जिसको इन असमानजातीयद्रव्यपर्याय रूप मनुष्य पर्यायों से अपनी कुछ प्रतिष्ठा रखने का भाव है सो शब्दों से तो वे बोलते जाते हैं उस आत्मस्वभाव की ही बात, किन्तु अन्तर में बसी है यह मलिनता कि लोग समझें कि यह कितना विशेष आत्मा की जानकारी रखता है ? इस मोह की अटक से शब्दों में अटक रह जाती है ।

विशुद्धभावनाबल—मोह और अज्ञान को कम करके अपने हित की विशुद्ध भावना द्वारा जो इन दोनों पदों को तोड़कर अन्तर में प्रवेश करता है वह आत्मा का परिचय पाता है । सारा जहान यदि मेरी प्रशंसा करने लगे तो उन भिन्न जीवों की परिणति से क्या आनन्द आ जायेगा ? सारा जहान यदि मुझे भूल जाये अथवा मेरा अपमान करे तो क्या उन भिन्न जीवों की परिणति से इस मुझमें कुछ बिगड़ हो जायेगा ? यहाँ जो कुछ सृष्टि होती है वह सब अपने आपकी दृष्टि के अनुसार होती है । हम अपने आपमें अपने आपको कैसे देखें कि हमारी शिव सृष्टि हो और कैसे देखें कि हमारी भवसृष्टि हो । यह सब मेरी करतूत पर निर्भर है । किसी दूसरे जीव की करतूत पर निर्भर नहीं है । अपने आपकी शिवमयी सृष्टि के लिए अपने को शिव स्वरूप तकें, कल्याणमय, ज्ञानानन्दघन ।

प्रसाद का उपाय—भैया ! किसी का प्रसाद पाना हो तो एक मन होकर उसकी भक्ति में लगे तो प्रसाद मिलता है । लोकव्यवहार में भी यदि दसों से कोई मित्रता बनाएं तो उसको किसी से प्रसाद नहीं मिलता है । क्योंकि वे दसों ही सोचते हैं कि यह मुझ पर निर्भर नहीं है, मेरा ही अनुरागी नहीं है । इसके तो दसों मित्र हो रहे हैं । जैसे लोग कहते हैं कि जिसके दसों मामा गांव में हों तो वह भूखा भी रह सकता है । क्योंकि सब वही सोचते हैं कि कहीं खा लिया होगा, यहाँ तो उसके कितने ही रिश्तेदार है । जिसका गांव में केवल एक ही रिश्तेदार है सो उसकी पूरी फिक्र रहती है । २४ घंटे की चर्या की परवाह रहती है । हम चाहें कि ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा मुझ पर प्रसन्न हो और इस ज्ञायकस्वरूप के जानी दुश्मन रागादिक भावों में हम अपना अनुराग बनाएँ तो ज्ञायकस्वरूप भगवान के प्रसाद की क्या वहाँ आशा भी की जानी चाहिए ?

स्वरूपसर्वस्व—वह ज्ञायकस्वरूप ही मेरा भगवान है, यह ही मेरा शास्त्र है, यह ही मेरा गुरु है, यह ही मेरा व्रत, तप, संयम है, यह ही मेरा परमार्थ शरण है ऐसा कहने में व्यवहार के देव, शास्त्र, गुरु का प्रतिषेध नहीं किया किन्तु व्यवहार में देव शास्त्र गुरु को मानकर भी परमार्थ से वह अपने परिणमन को ही मान रहा है । एक वस्तु का दूसरे वस्तु पर परिणमन नहीं होता ।

क्रोधवृत्ति की समीक्षा—जैसे आप किसी बालक पर क्रोध करें तो यह बतलावों कि वास्तव में आप किस पर क्रोध कर रहे हैं? आपकी बात पूछ रहे हैं और क्रोध की बात पूछ रहे हैं, आप जितने हैं उतने को देखकर बतावो, और क्रोध जिसे कहते हैं उसको देखकर बतावो कि आप क्रोध किस पर करते हैं? आप अपना कुछ भी काम अपने प्रदेश से बाहर नहीं कर सकते हैं। यदि करते होते तो आज यह सारा संसार मिट जाता। कोई पदार्थ किसी पदार्थ को कुछ कर देता तो यों कुछ भी न रहता और फिर दूसरे भगवान् तो अपने आपके सिवाय अन्य का कुछ करने का विकल्प भी नहीं करते, न कुछ करते, किन्तु यहाँ आप दूसरों को कुछ करने लगे तो भगवान् से भी बड़ी बात आपमें आ गयी (हँसी)। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में कुछ करता नहीं है। आप क्रोध अपने ज्ञायकस्वरूप भगवान् पर कर रहे हैं, बालक पर नहीं कर रहे हैं। क्रोध स्वभाव की चीज नहीं है। इस कारण क्रोध स्वरूप के निर्माण में कोई बाध्य विषय होना ही पढ़ता है। वह बालक आपके क्रोध-स्वरूप के निर्माण में विषय मात्र है, पर न आप बालक पर कुछ करते हैं, न बालक आप पर कुछ करता है। तो वास्तव में आपने अपने को ही क्रोधित किया, अपने पर ही क्रोध किया।

रागवृत्ति की समीक्षा—इसी प्रकार आप बालक पर जब राग करते हैं तो आपने किस पर राग किया? आपने केवल अपने आप पर राग किया, बालक पर राग नहीं किया क्योंकि आप अपने प्रदेश में है, बालक अपने प्रदेश में है। आप अपने से उठकर बाहर नहीं आ सकते। आपका परिणमन आपके प्रदेश से उठकर बाह्य पदार्थों में नहीं जा सकता। सो आपने अपने आप पर ही राग परिणमन किया है, बालक पर नहीं किया है।

ज्ञानवृत्ति की समीक्षा—अच्छा, न आप बालक पर क्रोध करें, न बालक पर राग करें किन्तु बालक को सिर्फ जानते भर रहे हैं। तो आप यह बतावो कि आपने बालक को जाना, क्या यह वस्तुतः सही है? सही नहीं है। उस समय भी आपने अपने को जाना। पर वह साकार जानन किसी पर को विषय बनाए बिना होता नहीं है। यह साकार जानन की विधि है। सो उस जानन का विषयभूत वह बालक होता है पर वास्तव में आपने अपने को ही उस बालकाकार रूप में जाना, बालक को नहीं जाना।

प्रभुभक्ति की समीक्षा—इसी प्रकार जब आप प्रभु की भक्ति करते हैं वहाँ आप अपने आपके गुणों के परिणमनरूप अपने गुणों की भक्ति करते हैं, किन्तु गुणों के परिणमन रूप उस भक्ति का निर्माण निर्दोष सर्वज्ञ प्रभुस्वरूप को विषय करके बन पाया है इसलिए वह प्रभु आपकी भक्ति का विषय है किन्तु आप प्रभु पर भक्ति नहीं कर सकते। अपने आपके गुणों के परिणमन रूप अपने गुणों की भक्ति करते हैं। तो विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावात्मक अपने आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय रत्नत्रयरूप छैनी से बंध को पृथक् करना और बंध से पृथक् किये गये शुद्ध अर्थात् केवल निजस्वरूपमात्र आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

समरसनिर्भरा प्रज्ञा—यह शुद्ध आत्मा जब अपने आपके ग्रहण में आता है तब वीतराग सहज उत्कृष्ट आनन्द रूप समतारस से भरी हुई वृत्ति से यह आत्मा पकड़ में आता है अर्थात् समता को उत्पन्न करती हुई वृत्ति में आत्मग्रहण होता है। इस प्रज्ञा द्वारा आत्मा और बंध का लक्षण भिन्न-भिन्न पहिचाना था। उसी प्रज्ञा

में और तेज बढ़ाकर रागादिक बंधनों को छोड़कर अपने इस शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेता है। बस इसी प्रकार अपने आत्मतत्त्व में प्रवेश करना, सोई सर्वसंकटों से छूटने का उपाय है।

यह आत्मा प्रज्ञा द्वारा किस तरह ग्रहण किया जाना चाहिए, ऐसा प्रश्न होने पर अब उत्तर दिया जा रहा है।

गाथा २९७

पण्णाए घेतब्बो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्जा परे त्ति णायब्बा ॥२९७॥

आत्मग्रहण—इस प्रज्ञा के द्वारा ऐसा ग्रहण करना चाहिए कि जो यह चेतयिता है सो मैं निश्चय से आत्मा हूँ और इस चैतन्यभाव के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। आत्मा को ग्रहण करना आत्मा को मानने के द्वारा होता है। यह हाथ पैर के द्वारा ग्रहण में तो आता नहीं। जान लिया जिस रूप से उस रूप से अपने को ग्रहण किया। जो लोग अपने को धनिक, परिवार वाला, पढ़े लिखे, इंसान आदिक रूप मानते हैं वे उसीरूप में अपना ग्रहण करते हैं। किन्तु जिसरूप से ग्रहण कर रहे हैं वे वह स्वरूप आत्मा का नहीं है, इसलिए उस ग्रहण को आत्मा का ग्रहण नहीं कहते हैं। आत्मा का सहज स्वभाव क्या है, अर्थात् किसी परद्रव्य के संग्रिधान बिना अपने आप आत्मा का स्वभाव क्या है? वह चैतन्यस्वभाव है। उसका ग्रहण स्वयं तैयार हो तो सकता है, निर्विकल्प वृत्ति में आए तो ग्रहण हो सकता है।

आत्मग्रहण का बाधक विकल्प—जो चेतयिता है वह मैं हूँ। जो चेतना प्रकाशमात्र है वह मैं हूँ ऐसा प्रत्यय स्व की निर्विकल्प चिदवृत्ति के पुरुषार्थ बिना नहीं हो सकता। मोटी बात यह जान लो अपने बारे में कि अपना ख्याल जब तक है तब तक आत्मा को नहीं समझा। ख्याल उर्दू शब्द इसीलिए दिया है। ख्याल और ज्ञान में अन्तर है। ख्याल होता है विकल्प लगाकर और ज्ञान होता है जाननस्वभाव के कारण। अपना जब तक ख्याल रहे तब तक जानो कि हमने आत्मा का अनुभव नहीं किया। अपना ख्याल रहता है सबको। चींटी भी चलती-चलती यदि कहीं गरम अथवा प्रतिकूल बात मिल जाये तो उसके मुँह के आगे जो छोटी-छोटी दो मूँछ-सी लगी रहती है उसका स्पर्श होते ही लौट जाती है। तो उसे भी अपना ख्याल है और इस बुद्धिमान मनुष्य को भी अपने बारे में कुछ ख्याल आता है। जब तक अपना ख्याल है, विकल्प है, तब तक निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश का अनुभवन नहीं होता है। यह एक मोटी बात कह रहे हैं जल्दी पहिचानने के लिए कि हम आत्मा के निकट पहुँचे या नहीं।

शान्ति का जड़ विभूति से असम्बन्ध—मैया! सबसे महान् पुरुषार्थ है आत्मा का ज्ञान करना। धन वैभव मकान आदि सम्पदाएं मिलना किस काम के हैं? न इनसे वर्तमान में शांति है और न आगामी काल में ये शांति के कारण हैं। शांति का सम्बन्ध शुद्धज्ञान से है। शांति का हेतु यथार्थ ज्ञान है, वैभव सम्पदा शांति का हेतु नहीं है। प्रथम तो वैभव सम्पदा उदय के अनुकूल है जोड़ते जावो—जोड़ते जावो। उदय की

सीमा का उलंघन न होगा । सब जानते हैं—अपनी-अपनी उम्र के भीतर जो घटनाएं गुजरी हैं, और उदय अनुकूल होता है तो पता नहीं होता और कहीं से आ जाता है, किन्तु लक्ष्मी आये या जावे—इससे शांति का सम्बन्ध नहीं है ।

विचित्र गर्त—इस जीव में आशारूपी गड़ा इतना विचित्र है कि और गड़ों में कूड़ा करकट भरते जावे तो वह भर जाता है पर इस आशा का गड़ा ऐसा विलक्षण है कि इसमें धन वैभव का कूड़ा जितना भरते जावो उतना ही यह चौड़ा होता जाता है । जो इसके मर्म को नहीं जानते उनको बतावें तो कहेंगे कि क्या कोई ऐसा भी गड़ा है कि जितना भरते जावो उतना ही बड़ा होता जाता है । यह आशा का गड़ा ऐसा ही विचित्र है । सो जिसमें इतना साहस है कि जैसी भी स्थिति आए जो भी आय हो, क्या परवाह, उसका तो सीधा हिसाब है कि उस आय के भीतर ही अपने ६-७ हिस्से बनाना और दान पुण्य पालन पोषण आदि के लिए जो हिस्सा नियत किया है उसे भी करना व नियत हिस्से में गुजारा करना । तो अपनी नीति के अनुसार यदि यह जीव चलता है तो उसे कहीं आपत्ति नहीं है ।

स्वकीय प्रगति—मैया ! न शौक किया जाये तो इससे आत्मा का क्या घट जाता है? किन्तु यदि ज्ञान का योग न मिला तो आत्मा का सब बिगड़ जाता है । सबसे उत्कृष्ट वैभव है आत्मज्ञान । आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ तीन लोक का वैभव भी आ जाये तो उससे इस आत्मा में क्या आता? जिनकी पर की ओर दृष्टि लगी है वे अन्य पुण्यवंतों के चाकर बने हुए हैं । क्यों न बनना पड़ेगा चाकर, उन दूसरों का पुण्योदय है ना, सो कुछ निमित्त तो बनना ही चाहिए । वहां यह मोही जीव निमित्त बनता है ।

सहज व बनावटी तोष का अन्तर—लोक में सर्वत्र केवल दुःख ही दुःख बसा हुआ है । जो सुखी भी है वह भी अपनी कल्पना बसाये हैं । आप लोगों ने अंदाज किया होगा कि सहज शांति उत्पन्न होने से जो तृप्ति होती है, संतोष होता है वह तृप्ति और शांति किसी भी विषय के भोग में नहीं होती है । जब योगी अपने आत्मा का ध्यान करते हैं, स्थिर आसन करके सीधे बैठकर एक चित्त होकर तो उनके कंठ से अमृत झङ्गने के साथ-साथ तृप्ति भी होती जाती है । देखो यह प्राकृतिक व्यवस्था बतला रहे हैं कि जब ध्यान स्वच्छ होता है तो कंठ तो वही है मगर उस कंठ से कुछ सहज ही ऐसा गुटका आता है, और कुछ रस-सा झङ्गता है कि वह तृष्णा को शांत करती हुई तृष्णा को विश्रांत करती हुई आत्मा में एक तृप्ति ला देती है । विषयों के सुख के बीच कभी भी वह रस नहीं झङ्ग सकता । सुख तो जरूर मानते हैं मगर शांति रस नहीं आ पाता । वे आकुलित होते हैं ।

भ्रान्ति का संकट—मैया ! बड़ा संकट है जीव पर यह कि वह कुपथ पर चल रहा है और सुपथ मान रहा है । यही है सबसे बड़ा संकट जीव पर । एक गांव के बाहर बढ़ी रहता था तो मुसाफिर लोग उस रास्ते से जाते तो उससे रास्ता पूछते थे, अमुक गांव का रास्ता कहां से गया है? तो गया हो पूरब को और वह बताता था पश्चिम को । और साथ ही यह कह देता था कि इस गांव में मस्खरा लोग बहुत रहते हैं, उनसे तुम रास्ता पूछोगे तो वे उल्टा बतायेंगे, सो तुम उनकी एक न मानना । अब तो इस मुसाफिर पर बड़े संकट छा गए । गांव में पूछता है लोगों से तो वे पूरब की ओर बताते हैं । यह सोचता है कि सचमुच इस

गांव के लोग बड़े मस्खरा हैं। ये सीधी रास्ता ही नहीं बताते, उल्टा ही रास्ता बताते हैं। तो जिसको उल्टा रास्ता सीधा जंच रहा हो, सीधा रास्ता उल्टा जंच रहा हो उसके बराबर क्या दुनिया में कोई संकट में है? नहीं है। घर में परिवारजनों से हिलना मिलना, प्रेम वचनालाप कर मन का बहलावा करना, इनसे यह जीव मानता है कि मैं बहुत सुखी हूँ। इस परिणाम में रहने वाला मनुष्य पीछे जब फल भोगता है तब उसे याद होता है कि अहो मैं बड़े ही धोखे में था।

संसार क्लेश का उपनाम—अच्छा बतावो कैसा ही अधिक कोई आपका प्रियतम हो, उसका वियोग होगा या नहीं? यह निर्णय कर लो। अवश्य वियोग होगा। तो जो संयोग में अधिक अनुराग करते हैं उन्हें वियोग में कितना क्लेश करना पड़ता होगा? अनुपात लगा लो सब बातें एक सी पड़ जाती हैं। चाहे दो दिन डटकर हलुवा खा लो और फिर १२ दिन मूँग की दाल रोटी में रहो, हिसाब एक ही पड़ जायेगा। दो दिन में जो आनन्द लूटा है वह घट करके १० दिन के कष्ट में बराबर मामला रह जायेगा। भविष्य का खतरा और सिर पर रख लिया। संसार के यदि सुखों में आसक्त होकर सुख मानते हो तो उससे कितने ही कष्ट भोगने होंगे।

भली विधि से जानन—जिसका आत्मा सावधान है, विवेक जागृत है, पर को पर जानता है, स्वयं के स्वरूप को स्वयं आत्मरूप जानता है वह पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता। जो कुछ हो जाये वही भला। जो होने को होता है सो होता है। जो होता है वह सब भले के लिए ही है। पापी लोग पाप करते हैं, पाप के फल में नरक जाना पड़ता है। क्या नरक जाना भी भला है? हां नरक भी भला है। उन दुःखों को भोगकर यह आत्मा भाररहित हो जायेगा। जो होता है उसमें ऐसा ज्ञान जगावो कि आपको आप अपना और पर पराया दिखे, तो उसमें कुछ अनाकुलता मिलेगी और चाहे कुछ अनुकूल भी हो और ऐसा ज्ञान बनाया जाये कि जिससे विकल्प बढ़े, तो उससे कुछ हित नहीं है।

भलापन का निष्कर्ष निकालते हुए जानन पर एक दृष्टान्त—एक बार बादशाह और मंत्री जंगल में जा रहे थे। मंत्री की आदत थी कि प्रत्येक बात में वह यह कह देता कि यह भी अच्छा है। चलते-चलते गर्पे लग रही थी। बादशाह पूछ बैठा कि ऐ मंत्री मेरे एक हाथ में एक अंगुल नहीं है, मैं अंगहीन हूँ यह कैसा है? तो मंत्री बोला कि यह भी अच्छा है। बादशाह ने सोचा कि मैं तो अंगहीन हूँ और यह कहता है कि यह भी अच्छा है। सो उसने मंत्री को कुए में ढकेल दिया। राजा आगे बढ़ गया। दूसरे देश का राजा नरमेघयज्ज कर रहा था। यह किसी हत्यारे जमाने की प्रचलित चीज है कि मनुष्य को भी जलती आग में भून देते थे। उस राजा ने चार पंडे छोड़ दिये थे कि कोई बड़ा सुन्दर हष्ट पुष्ट मनुष्य लावो, इस यज्ज में होमना है। उन पंडों को मिला वही बादशाह जिसने मंत्री को कुवे में ढकेला था। पकड़ कर ले गए। अब उस राजा को एक खूंटे में बँधा दिया। जब मंत्र जपा जायेगा। स्वाहा होगा तब यह मनुष्य होमा जायेगा। तो अभी स्वाहा में १०-१२ मिनट की देर थी एकाएक ही एक आदमी को दिख गया कि इसके एक अंगुली नहीं है, कहा—अरे यह आदमी होमने के लायक नहीं है। इससे तो यज्ज बिगड़ जायेगा। सो पंडों ने दो चार ढंडे जमाए और भगा दिया। हट, तू हमारी इस यज्ज में होमने के योग्य नहीं है। वह बड़ा प्रसन्न होता हुआ

चला आ रहा था । सोचा कि मंत्री ने ठीक कहा था कि तू अंगुलीहीन है, यह भी अच्छा है । यदि मेरी पूरी अंगुलि होती तो आज मेरे प्राण न बचते । खुश होता हुआ बादशाह आया, मंत्री को कुए से निकाला, और उसे गले से लगाया । बादशाह ने कहा मंत्री से कि तुम सच कहते थे—किस्सा सुनाया । यदि मैं अंगहीन न होता तो बच न सकता था । पर यह तो बतलावो मंत्री कि तुम्हें जो मैंने कुवें में ढकेल दिया सो कैसा हुआ? मंत्री ने कहा यह भी अच्छा हुआ । तुम तो अंगुलीहीन बच जाते और मैं होम में होम दिया जाता । तो यह भी अच्छा हुआ ।

ज्ञानविधि पर सुख दुःख की निर्भरता—सो भाई सब चीजें सामने हैं । उन चीजों को देखते हुए मैं तुम सुखी भी हो सकते हो, दुःखी भी हो सकते हो । उन वस्तुओं के विषय में ज्ञान की कला तुम जैसी खेल जाओ तैसा ही सुख और दुःख तुम्हारे हाथ है । कौन सी घटना ऐसी है जिसमें आपको दुःखी होना पड़े ? कोई ऐसी घटना नहीं है । अपना ज्ञान औंधा, सीधा, उल्टा चला करता हो तो उसी से दुःख है । अन्यथा कोई घटना ऐसी नहीं है कि जिसमें दुःखी होना ही पड़े । एक भी नहीं है । आप कहेंगे—वाह इतनी बड़ी जर्मांदारी छीन ली यह क्या कम घटना है? अरे यह कुछ नहीं है । तुम अपना ज्ञान सीधा बना लो—दुःख मिट जायेगा, और अगर उल्टा ज्ञान बनाया कि हमारी इतनी जायदाद थी और ऐसी रईसी में रहते थे, लोग मुझे ऐसा सिर नवाते थे, आज क्या हाल हो गया । ज्ञान की कला ही तो उल्टा खेली लो दुःख हो गया । अरे ज्ञान की सीधी कला यों क्यों न खेल जाओ कि दुनिया में तेरे लिए कहीं कुछ नहीं है । तू अपने आपमें अकेला ज्ञानानन्दनिधान प्रभु की तरह अकेला है । बड़े-बड़े राजा महाराजावों ने सब कुछ त्यागा, प्रभुता पायी, तब भगवान हुए, मुक्त हुए ।

ज्ञानकलिका—भैया ! ये सब कुछ समागम है अंततोगत्वा छोड़ने के लिए, ऐसा जानकर किसी क्षण तो सहज चित्प्रकाश की झलक आए साधुओं की तरह । बात यह है कि साधुओं को ऐसी झलक निरन्तर आनी चाहिए, किन्तु गृहस्थों को आत्मतत्त्व के स्पर्श करने वाली झलक रात दिन में यदि पाव सेकेण्ड को भी कदाचित् हो जाये तो शेष समय में कर्म विपाकवश पर में लगना भी पड़ता है तो भी अनाकुलता अन्तर में रहती है । दूसरी बात यह है कि हम यथार्थ ज्ञान कर लें ज्ञान को तो कोई नहीं रोक सकता । चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो—ज्ञान तो आत्मा की वस्तु है । यथार्थज्ञान गृहस्थ को भी होता है, और गृहस्थ यथार्थ ज्ञान के बल से यदि निर्मोह अवस्था को धारण करता तो वहां ऐसा नहीं है कि वैभव सब उससे हट जाता है, वैभव का अन्वय-व्यतिरेक पुण्योदय के साथ है । वर्तमान परिणाम के साथ नहीं है ।

परिणामों की उत्कृष्टता का प्रभाव—भैया ! कोई ऐसा समझते हैं कि जब दुकानदार लोग ग्राहकों को तिगुने दाम बताते हैं तब सही दाम पर ठिकाने से सौदा पटता है । यही हाल है लोक का ? जिस स्थिति में हैं उस स्थिति की ही दृष्टि रखें तो आत्मा में उस स्थिति के साधक भी योग्य परिणाम नहीं हो सकते । गृहस्थजन अपनी वर्तमान गृहस्थी के योग्य निर्मलता की रक्षा करने में तब समर्थ है जब ज्ञान की उत्कृष्टता की वृत्ति कभी-कभी जगती रहे । सो लोकव्यवहार तो पुण्योदय के अनुकूल है किन्तु आत्महित आत्मा की सावधानी में है सो उत्कृष्ट ज्ञान व संयम की दृष्टि रखो ।

आत्मग्रहण उपाय निजभावना—यहां यह बात बतायी जा रही है कि हम आत्मा का ग्रहण कैसे कर सकते हैं। जिस प्रज्ञा के द्वारा हमने आत्मा से, रागादिक भावों को अलग किया उसी प्रज्ञा के द्वारा हम ऐसी भावना बनाए कि जो चेतने वाला है वह मैं आत्मा हूँ। जो रागादिकभाव है वह मैं आत्मा नहीं हूँ। देखो आप लोगों के घर में इतनी दंदफंद लगी है पर इस समय रागादिक भावों से विविक्त चैतन्यस्वरूप मात्र आत्मतत्त्व की कथनी सुनने में कोई विलक्षण आनन्द भी तो जगता होगा। उससे ही यह अंदाज कर लो कि गृहस्थी में रहते हुए भी श्रावक इस योग्य होते हैं कि वे किसी क्षण सर्व को भूलकर निर्विकल्प चित्प्रकाशमात्र आत्मस्वरूप की दृष्टि कर सकते हैं। अतः इस अध्यात्मसाधना के लिए गृहस्थी की अवस्था को पूर्ण बाधक नहीं माना। सो जिस स्थिति में आप हैं उस ही स्थिति में जब तक भी रहना पड़े तब तक दृष्टि आत्मज्ञान की करें, लक्ष्य आत्महित का बनाएँ।

आत्महित की मुख्यता से नरजन्म की सफलता—भैया ! यह सोचना भूल है कि मैं घर की व्यवस्था करता हूँ तो व्यवस्था बनती है। घर के लोग आपसे भी अधिक पुण्यवान् है, जो बैठे हैं—शृङ्गार और आराम साधनों में रहते हैं। उनके पुण्योदय का निमित्त पाकर आपको ये सारे परिश्रम करने पड़ते हैं सो सब कुछ उदयानुसार होता है, पर यह जीवन बड़ा दुर्लभ है। आत्महित की बात को मुख्यता देना है।

स्व की स्वामी में त्रिकालव्यापकता—जानी जीव आत्मभावना कर रहे हैं कि जो यह चैतन्यस्वरूप है सो मैं हूँ। बाकी जो मेरे लक्षणरूप नहीं हैं, अपने लक्षण से लक्ष्य हैं ऐसे व्यवहार में आने वाले समस्त भाव मुझसे न्यारे हैं क्योंकि जो मुझमें सदा रहे वह मेरा है, जो मुझमें सदा नहीं रह सकता वह मेरा नहीं है। किसी इष्ट के गुजरने के बाद उसके बंधु यही सोचकर तो संतोष करते हैं कि वह मेरा नहीं था और युक्ति यह देते हैं कि मेरा वह होता तो मेरे पास रहता। अब अपने ही प्रदेश में होने वाले भावों के विषय में ऐसा ही निर्णय करो। जो मुझमें सदाकाल व्यापक है अथवा मुझ व्यापक में जो सदा काल व्याप्त है, अर्थात् जो मुझमें सदाकाल रह सकता है वह तो मेरा है और जो सदा नहीं रह सकता वह मुझसे अत्यन्त भिन्न है।

क्रान्ति की साधना—भैया ! जब दोस्ती तोड़ी जाती है तो मूल से तोड़ी जाती है, थोड़ी लगार रखने में भी भिन्नता नहीं होती है। यद्यपि ये रागादिक विभाव आत्मा के गुण के विभाव परिणमन हैं। जिस काल में हैं उस काल में मुझमें तन्मय है, तिस पर भी जब लक्षणभेद से भेद किया जाता है तो मैं अत्यन्त भिन्न हूँ और रागादिक अत्यन्त भिन्न हैं। इस कारण मैं ही मुझको मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिए मुझसे ही मुझमें ही ग्रहण करता हूँ।

परमार्थप्रतिबोध का साधन व्यवहार—वह मैं जो मुझ में सदा काल व्यापक है वह अन्य कुछ नहीं है, वह मैं ही हूँ। समझने के लिए अपने आपको भेदबुद्धि से स्वरूप और स्वरूपी का भेद किया है। मेरा क्या है? मैं हूँ, ऐसा कहने पर दूसरा क्या समझेगा? और कोई तो यह भी कह बैठेगा कि यह पागलपन की जैसी बात है। जैसे पूछा कि इस खम्भे का कौन अधिकारी है? इस खम्भे का खम्भा अधिकारी है। इस चौकी का कौन मालिक है? इस चौकी का चौकी मालिक है। परमाणु का कौन मालिक है? परमाणु का वही परमाणु मालिक है। पर इसका अर्थ क्या निकला? अर्थ तो कुछ नहीं निकला। पर जो पर के मालिक बने

बैठे हुए हैं उनको समझाने के लिए वस्तु को अद्वैत बताने के लिए उस समय और कोई उपाय नहीं है। इस कारण इन राज्यों में कहना पड़ता है कि परमाणु का मालिक परमाणु है। आत्मा का मालिक आत्मा है। मेरा मैं हूँ। इस रहस्य को समझने के लिए स्वरूप और स्वरूपी का भेद किया जाता है। मेरा तो चैतन्यस्वरूप है, धन वैभव आदि मेरा नहीं है।

आत्मप्रतिबोध—मैया ! अब अपनी बात देखो, यह चैतन्यस्वरूप तुझसे कोई अलग चीज है क्या ? जिसका तू अपने को मालिक बनाना चाहता है वह अलग कुछ चीज नहीं है पर व्यवहारीजनों को समझाते हैं सो व्यवहारभाषा में समझा रहे हैं। व्यवहार भाषा का यहाँ अर्थ है भेदविज्ञान भाषा। उससे यहाँ भेद करके समझाया है इस ज्ञानी पुरुष ने प्रज्ञा के द्वारा आत्मा में और विभाव में भेद किया और भेद करने के पश्चात् प्रज्ञा के ही द्वारा विभाव को छोड़कर आत्मा को ग्रहण किया। तो यह ज्ञानी अपने आत्मा को किस प्रकार से ग्रहण कर रहा है उसका यहाँ विवरण है। मैं ग्रहण करता हूँ। जैसे बाहर की चीजों में कहते हैं ना कि मैं घड़ी को ग्रहण करता हूँ, इसी तरह मैं आत्मा का ग्रहण करता हूँ तो किस तरह ? मैं अपने को जानता हूँ, यही ग्रहण है।

मेरी क्रिया का आधार—मैं अपने को कहाँ जानता हूँ ? मंदिर में जानता हूँ क्या ? मंदिर में तो मैं हूँ ही नहीं। अभी की ही बात कह रहे हैं। क्या आप मंदिर में बैठे हैं ? जब आप अपने आत्मस्वरूप को जानने का प्रसंग बना रहे हैं, उस स्थिति में आप कहाँ बैठे हुए हैं ? आप अपने आत्मा में बैठे हैं, मंदिर में नहीं बैठे हैं। मंदिर क्षेत्र, आकाश प्रदेश अन्य द्रव्य है, आप चैतन्यस्वरूप आत्मा अन्य द्रव्य है। कोई द्रव्य किसी दूसरे अन्य द्रव्य में प्रवेश कर सकता है क्या ? नहीं कर सकता है। किन्तु जरा दृष्टि बाहर में डालें तो देखते हैं कि मंदिर में ही तो बैठे हैं। आखें खोलकर देखें तो ऐसा लग रहा कि हम मंदिर में अच्छी तरह बैठे हैं और जब दृष्टि अपने अंतःस्वरूप में लगायें तो यह लगता कि यह मैं अपने मैं ही पड़ा हूँ, मैं अपने को ग्रहण कर रहा हूँ। अपने मैं ग्रहण कर रहा हूँ, याने अपने आपमें अपने ज्ञान गुण के परिणमन द्वारा अपने आपको प्रतिभास रहा हूँ।

आत्मक्रिया का साधन और संप्रदान—ऐसा मैं किसके द्वारा जान रहा हूँ ? अपने ही द्वारा। परमार्थतः न इसमें गुरु साधन है, न प्रभु साधन है, न दीपक साधन है, न शास्त्र साधन है, न वचन साधन है। अपने आपको जानने का साधन मैं ही हूँ। तो अपने द्वारा जान रहा हूँ। किस लिए जान रहा हूँ ? दूसरे के पालन के लिए नहीं कुछ बाहर में संचय करने के लिए नहीं, अपने आपके जानन के लिए जान रहा हूँ। जानन के लिए आनन्द के लिए जान रहा हूँ। कभी कोई नई चीज देखी जा रही हो तो आसपास के छोटे बच्चे भी घुटने टेककर, हाथ टेककर पास बैठे हुए के कंधे पर हाथ धरकर सिर को झुकाकर देखते हैं, जानते हैं। वे क्यों जानते हैं ? उन्हें कुछ मिलता नहीं है। केवल जानने के लिए ही जानते हैं, उन्हें कुछ मतलब ही नहीं है। जानता हूँ, अपने लिए जानता हूँ, जानन ही प्रयोजन है।

आत्मक्रिया का अपादान—यह जो मैं जान रहा हूँ सो जानन तो ऐसा हो रहा है किन्तु बाद में वह जानन मिट गया। अब अगले समय में दूसरा जानना हो गया। जिस पेड़ के पत्ते सूख कर झड़ गए फिर

नये पत्ते हो गए, इसी तरह यह जानन परिणमन होकर मिट गया, तुरन्त ही नवीन जानन परिणमन हो गया, पर यह किससे निकलकर मिटा ? यह जानन परिणमना मुझसे ही निकला और मिटा, फिर और जानन हुआ सो मैं इस जानते हुए से जानता हूँ ।

ज्ञानस्वरूप के ज्ञान के ज्ञानपना—इस तरह यह ज्ञानी जीव विभाव से अपने को जुदा करके जान रहा है । यह है ज्ञान और बाकी चीज है अज्ञान । जो ज्ञान ज्ञान को जाने परमार्थज्ञान वही है । जो ज्ञान अज्ञानभाव को जाने वह ज्ञान अज्ञान को जानने से अज्ञान है ।

चेतन की मात्र एक क्रिया चेतना—इस तरह यह मैं आत्मा को ग्रहण कर रहा हूँ । तो ग्रहण क्या कर रहा हूँ ? मैं चेत रहा हूँ अपने आपको । क्योंकि मेरी क्रिया सिवाय चेतने के और कुछ नहीं है । हम दूसरों पर गुस्सा करेंगे तो क्या कर डालेंगे दूसरों का ? कुछ नहीं । उस समय भी हम अपने को चेत रहे हैं पर पर्याय रूप से चेत रहे हैं । हम कुछ भी कर रहे हों, खोटा परिणमन या भला परिणमन या शुद्ध परिणमन, सर्वत्र हम अपने को ही चेतते हैं । और कुछ नहीं करते हैं । तो चेतना ही मेरी क्रिया है । सो मैं अपने को चेतता हूँ । यही ग्रहण करने का भाव है । और यह मैं अपने को चेत रहा हूँ, सो जिसे मैं चेत रहा हूँ वह मैं दूसरा नहीं हूँ ।

चेतना सामान्यक्रिया—चेतता हुआ ही मैं चेत रहा हूँ और चेतते हुए के द्वारा मैं चेत रहा हूँ, चेत रहे के लिए मैं चेत रहा हूँ और चेत रहे मैं चेत रहा हूँ । ‘चेत रहा हूँ’ का अर्थ है प्रतिभास रहा हूँ । चेतना के दो-दो परिणमन हैं जानन और देखन । जानन में भी चेत है और देखन में भी चेत है । यहाँ दोनों को न बनाकर जो दोनों में एक बात घटी ऐसा सामान्य गुण की वृष्टि से वर्णन है और मैं कहा चेत रहा हूँ ? इस चेतते हुए में चेत रहा हूँ ।

भेदाभ्यासियों के लिये कारकव्यवहार—भेया ! यह एक है और परिणम रहा है । किन्तु यहाँ ऐसे जनों को समझाना है जो अपने व्यवहार में भिन्न-भिन्न बातें मानते थे । जैसे मैं मंदिर में कलम के द्वारा स्याही से इस पुस्तक को तुम्हारे समझाने के लिए लिख रहा हूँ । ऐसी ही भेदबुद्धि की बातें कल्पना लगी हुई हैं, वहाँ पर भी न मैं लिख रहा हूँ, न मंदिर में लिख रहा हूँ, न समझाने के लिए लिख रहा हूँ, किन्तु यहाँ भी मैं चेत रहा हूँ । जिसरूप को चेत रहा हूँ उस रूप चेत रहा हूँ । जब अपने नियत काम से अन्य कामों में वृत्ति होती है तब क्षोभ होता है । यह मैं तो इस अभिन्न षट्कारक में अपने आपको ग्रहण कर रहा हूँ । वहाँ क्षोभ का निशान भी नहीं है ।

अखण्डभाव में पहुँच—देखिये पहिले भी ग्रहण की बात, फिर आई चेतने की बात और अभिन्न षट्कारक में चेतने की बात । यहाँ किसी परिचित की यों बुद्धि होती होगी कि क्या फिजूल कहा जा रहा है ? वह तो है और यों वर्त रहा है । इतना ही मात्र तो वहाँ तत्त्व है और घुमा-फिराकर कर्ता करण आदि बातें करके कितनी बातें क्यों व्यर्थ बोली जाती है तब उससे उत्कृष्ट बात अब यह समझ में आयी कि अब मैं न चेत रहा हूँ, न चेतता हुआ चेत रहा हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेत रहा हूँ, न चेतते हुए के लिए चेत रहा हूँ, न चेत रहे मैं चेत रहा हूँ, न चेत रहे से चेत रहा हूँ, न चेतते हुए को चेत रहा हूँ किन्तु मैं तो सर्व विशुद्ध

चैतन्यमात्र भाव हूँ। मैं कर कुछ नहीं रहा। मैं तो एक चिन्मात्रभाव स्वरूप पदार्थ हूँ, यही आत्मा का परमार्थ ग्रहण है।

अभिन्नषट्कारकता पर सर्प का दृष्टान्त—एक दृष्टांत लो मोटा, एक सांप गुड़ेरी करके बैठ गया। सांप लम्बा होता है ना। अपने शरीर को गोल बनाकर बैठ गया। हम आपसे पूछें कि सांप ने क्या किया? अपने को गोल किया। तो उसने अपने को गोल किसके द्वारा किया? अपने ही द्वारा किया। जैसे हम यहाँ रस्सी को गोल कर देते हैं लाठी वगैरह से, क्या इसी प्रकार सांप ने अपने को किसी दूसरी चीज के द्वारा गोल किया? अपने ही द्वारा गोल किया। अरे तो ऐसा गोल किस लिए किया? हमारे लिए किया, या किसी को खेल दिखाने के लिये किया? अपने लिए किया। तो उसने गोल किसमें किया? अपने में किया और ऐसा गोल किस अपादान से किया? अरे उसका शरीर लम्बा-सा पड़ा था, उस शरीर से ही एक गोल परिणमन बना दिया। तो क्या बोलेंगे? सांप ने अपने को अपने द्वारा अपने लिए अपने से अपने में गोल कर दिया। यह बात जरा जल्दी समझ में आ रही है क्योंकि हम आंखों देखते हैं। पर इसका अर्थ है क्या? कोई इस वृत्ति को देख रहा हो तो वह पुरुष कहेगा कि क्या किया उसने? वह है और यों हो गया। इतनी ही तो वहाँ बात है। क्यों इसको बड़ी भाषाओं में बढ़ा-बढ़ाकर बोल रहे हैं?

अद्वैतचेतन—इसी तरह आत्मा ने अपने को अपने में अपने से अपने द्वारा अपने में प्रतिभासा, पर ऐसा वहाँ कुछ भेद नहीं पड़ा है और प्रतिभास हो गया। तो वह प्रतिभास होना भी प्रतिभास रूप भाव है। इसलिए अब और उसके स्वरूप में प्रवेश करके कहा जा रहा है कि मैं न चेतता हूँ, न प्रतिभासता हूँ, प्रतिभासते को नहीं प्रतिभासता हूँ, प्रतिभासते के द्वारा नहीं प्रतिभासता, प्रतिभासते के लिए नहीं प्रतिभासता, प्रतिभासते में नहीं प्रतिभासता, प्रतिभासते से नहीं प्रतिभासता किन्तु प्रतिभास स्वरूप हूँ, चैतन्यमात्र भाव वाला हूँ। इस तरह यह ज्ञानी पुरुष धर्मपालन कर रहा है, यही है उल्कृष्ट धर्म का पालन। जहाँ केवल अद्वैत निज ब्रह्मस्वरूप के प्रतिभास में आ रहा हो इससे और ऊँचा क्या पुरुषार्थ होगा?

हिंसादित्याग में परमार्थ अहिंसा का प्रयोजन—उस अद्वैत आत्मप्रतिभास की स्थिति के पाने के लिए ही ये समस्त व्रत, समिति, तप, चारित्र, अभक्ष का त्याग ये सब पालन किये जाते हैं। करना पड़ता ही है। जिसने जीव के स्वरूप को जाना वह अभक्ष्य कैसे खायेगा? उसके मन में यह न आयेगा कि इसमें असंख्याते कोई त्रस जीव है और उनके ऐसे अपघात से मरण हो जायेगा तो इससे भी नीची गति में वह पहुंच जायेगा और मोक्षमार्ग से दूर हो जायेगा। यह जीव निगोद जैसी निम्न स्थिति से उठकर दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय जैसी ऊँची स्थिति में आ गया तो वह यद्यपि मनहीन है तो भी मोक्षमार्ग के विकास के लिए एक कुछ विकास में न आया। कुछ अच्छी स्थिति में तो आए और उन कीड़ों को दांतों से चबाकर मार दे तो वह संक्लेश से मरेगा कि न मरेगा? तो मोक्षमार्ग से और नीचे गिरा कि नहीं। यद्यपि कोई तीन इन्द्रिय की अवस्था मोक्षमार्ग नहीं है, मगर व्यञ्जन पर्यायों के विकास में जो विकास की स्थिति है उसको तो गिरा दिया।

ज्ञानियों की अनुपम करुणा—ज्ञानी जीव को बस यह करुणा उत्पन्न होती है कि यह जीव मोक्षमार्ग में

लगे, मोक्षमार्ग से गिरे नहीं, उलट न जाये, ऐसी होती है ज्ञानी संतों की अपार करुणा । जो जिस शैली का है उसको उस शैली की दया होती है । दीन दुःखी दरिद्र भूखे बालक पर जितनी जल्दी दया महिलाओं को जिस रूप में आ सकती है उस रूप में दया शायद पुरुषों को नहीं आती है क्यों कि महिलाओं का उस विषय से सम्बन्ध है । कोई पुरुष अर्थ के सम्बन्ध में कुछ फंस गया हो, रकम डूब रही हो, इससे जो विकल हो रहा हो, उसकी बेचैनी को जितना पुरुष लोग अंदाज में ले सकते हैं उतना शायद महिलायें नहीं ले सकती हैं । सो जिसकी जैसी जो स्थिति है, सम्बन्ध है उस तरह की दया होती है, ज्ञानी जनों को, साधुजनों को, जीवों को ज्ञान देने के लिए, ज्ञानी देखने के लिए करुणा उत्पन्न होती है क्योंकि यह अपने आपमें चिन्मात्र भाव का अनुभव करते हैं । सो अन्य पर भी दया करते हैं कि अपने आनन्द अवस्था का अनुभव करो ।

आत्मग्रहण की प्रक्रिया—आत्मा को कैसे ग्रहण करना चाहिए, इस उपाय में प्रथम तो प्रज्ञा द्वारा विभाव और स्वभाव में भेद किया, जो हो फिर मिट जाये यह विभाव है और जो अनादि अनन्त अहेतुक सनातन तादात्म्यरूप हो वह स्वभाव है । ऐसा भेद करने के पश्चात् विभाव को तो यदि आत्मस्वरूप से न माना और चैतन्यस्वभाव को आत्मतत्त्व माना, यही हुआ आत्मा का ग्रहण । इस ग्रहण में यह आत्मा अपने आपमें इस प्रकार अनुभव करता है कि जिसको शब्दों द्वारा बांधा जाये तो यों कहा जाता है कि यह मैं अपने आपमें चेतते हुए अपने आपको चेतता हूँ ।

अभेद और अखण्ड अभेद—ज्ञान दर्शन सामान्यात्मक जो प्रतिभासस्वरूप है उसका क्रियामुखेन यह वर्णन है । मैं चेतते हुए को चेतता हूँ, चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ । चीज तो वहाँ एक ही हो रही है । उसको भेद घटकारक के अभ्यासियों को घटकारक द्वारा समझाया जा रहा है । मैं चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, चेतते हुए से चेतता हूँ और इस चेतनमान में ही चेतना हूँ । किन्तु ऐसा कुछ भेदरूप है क्या ? यह है और मात्र चेत रहा है । तब इस उपाय से और अन्तर्मुख वृत्ति होने में अन्तर्मुखी वृत्ति को यों शब्दों में आंका जाता है कि न मैं चेतता हूँ, न मैं चेतने वाले को चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता है, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, और न चेतनमान में चेतता हूँ, किन्तु सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ । इस बात को सांप के दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया गया था ।

अभेद और भेद परिज्ञान का आंदोलन—अब इसके उपसंहार में यहाँ यह कह रहे हैं कि जो विधिपूर्वक भेदे जाने में शक्य है उन-उन चीजों से तत्त्व से भेद कर दो और फिर वहाँ से भिन्न करके अपने आपमें ऐसा अनुभव करें कि चैतन्य मुद्रा से अंकित है अपने सम्बन्ध की महिमा जिसमें ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र मैं हूँ, यह ही प्रतिभास हो । यहाँ तक विभावों से निवृत्ति करके अपने आपके स्वरूप में आना हुआ है । अब जिस उपयोग में बड़ी सावधानी वर्ती जाने पर भी सीमा के अन्तर तक कुछ चढ़ा घटी होती ही रहती है । सो यद्यपि यह शुद्ध चैतन्य चैतन्यमात्र स्वरूप तक आया लेकिन इस अभेद के बाद फिर भेद से उत्थान होता है । इस सम्बन्ध में यदि कारण के द्वारा भेद होता है अथवा गुणों के द्वारा भेद होता है, अथवा धर्मों के द्वारा भेद होता है तो भेद होना भी सब अभेद के पोषण के लिए है । पर इस चिन्मात्र आत्मतत्त्व में परमार्थतः कोई भेद नहीं है ।

भेदप्रतिषेध के लिये भेदव्यवहार—गुण भेद, धर्म भेद और कारकभेद क्या है? धर्म भेद तो यह है कि अपना आत्मा अपने स्वरूप से है और समस्त पररूप से नहीं है। यह धर्मभेद का उदाहरण है ऐसा, पर ऐसी बात श्रुतज्ञान के विकल्पों में है, वस्तु तो जैसी है वही है। गुणभेद इस आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, शील है, आनन्द है। यों गुणों का निरूपण करना यह सब गुणभेद है। यह ज्ञानादिभेद भी इस अभेद चैतन्यस्वरूप के प्रतिबोध के लिए है। कारकभेद हुआ यह मैं आत्मा करता हूँ, क्या करता हूँ? अपना परिणमन करता हूँ। वह परिणमन है जाननस्वरूप। मैं जानता हूँ। बस हो गया कर्म, आगे विकल्प ये उत्पन्न होते हो। कैसा जानता है? किसको जानता है, काहे के लिए जानता है, किसके द्वारा जानता है, इन सब विकल्पों के समाधान के लिए इस ही अभेद वस्तु में षट्कारकपने का भेद बताया गया है।

कारकादिभेद से भी वस्तु के अभेद का अविनाश—सो—इस प्रकार का कारकभेद, धर्मभेद और गुणभेद किया जाता है और वस्तु को भिन्न-भिन्न किया जाता है तो किया जाये पर इस तरह इस भाव में इस व्यापक भाव में, इस विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। यही अध्यात्मयोगी का लक्ष्य है। जिसको पूर्णसत् मानकर ब्रह्मवाद प्रसिभासाद्वैतवाद ज्ञानाद्वैतवाद आदि अद्वैतवाद उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक वस्तु अद्वैत है। वस्तु यदि स्वरूप से अद्वैत नहीं होती तो वस्तु का सत्त्व नहीं रह सकता। प्रत्येक वस्तु स्वातिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों से अत्यन्त विविक्त है तभी उसका सत्त्व है। और इतना ही नहीं **किन्तु कार्य** का सम्बन्ध है, न प्रभाव का सम्बन्ध है, न शक्ति संक्रमण का सम्बन्ध है।

मैया! जो कुछ होता है विश्व में औपाधिक परिणमन, सो परिणमन वाला उपादान पर उपाधि का निमित्त पाकर स्वयं की परिणति से उस रूप परिणमता है। उसका ही व्यवहार भाषा में निमित्त का प्रभाव हुआ, वह कहा जाता है। वस्तुतः उपादान से निमित्त को पाकर अपने में जो योग्यता रूप प्रभाव था उसको व्यक्त किया है। जैसे न्यायालय में जज को देखकर देहाती लोगों के छक्के छूट जाते हैं और निपुण शहर के लोग दनादन पास पहुँचते हैं और हौसले से खुलकर बातें करते हैं। देहाती पर जज का प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु देहाती की अज्ञानता, अपरिचितता, अबोधता आदिक जो चित्त की कमजोरियां थीं उन कमजोरियों का प्रभाव जज का निमित्त पाकर व्यक्त हो गया। ऐसी ही बात सर्वत्र है।

स्वातन्त्र्य का सर्वत्र उपयोग—इस पद्धति से निरख लो मैया! न तो निमित्तनैमित्तिक भाव चूकता है और न वस्तु की स्वतन्त्रता मिटती है। जो जीव यहाँ भी किसी से प्रेमभाव करके पराधीन होता है तो वह मनुष्य स्वयं की स्वाधीनता से पराधीन होता है। उस पराधीनता में पर आश्रय पड़ता है। **न करो राग पराधीनता आ गयी।** इस पराधीनता में किसी दूसरे ने अपना परिणमन, अपना गुण, अपना द्रव्य कुछ डाला हो, यह नहीं है, और यह पराधीन करने वाला पुरुष किसी पर की उपाधि पाये बिना पराधीन होता है, और तिस पर भी पर की परिणति लेकर पराधीन होता नहीं। खुद ही स्वार्थता से अपने आपकी ओर से आजादी है उसे कि तुम ऐसा विकल्प बना लो कि पर के ही आधीन हो

सत्त्व की सदासिद्धता—वस्तु तो समस्त अपने स्वरूप में अद्वैत रूप है, वे वे ही हैं, कैसे भी बनें, वे वे ही हैं। यह जीव अनादि काल से न कुछ जैसी दशाओं में भी रहा है, निगोद जैसी दशाओं में रहा है, वृक्ष

खड़ा है, शाखायें है, छाल है, पत्ते है, ऐसा लगता है कि कुछ भी नहीं है ज्ञान, मोटे रूप से । ऐसी भी कुछ तुच्छ दशाओं से यह जीव परिणम गया तिस पर भी जीव जीव ही रहा, अन्य अन्य ही रहा । तब तो अज्ञानतिमिर के क्लेश में भी विवश था, मगर आज कुछ झलकन भी ऐसी है कि लो यह मैं जीव हूँ, और यह जीव भविष्य में कभी ज्ञानबल से कर्म और शरीर से मुक्त भी हो जाता है ।

अद्वैतभासी ज्ञान में आत्मग्रहिता—तो जो सत् है वह अपने में अद्वैत अन्य सर्व वस्तुओं से विविक्त है, चाहे वह किसी भी वृत्ति से परिणम रहा हो । इस विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में कोई भेद नहीं किया जा सकता । ऐसा अभेदस्वरूप चैतन्यमात्र मैं हूँ । यहाँ उपयोग को ठिकाना इस ब्रह्मस्वरूप में, इस चित्प्रकाश में, जहाँ व्यक्ति की खबर नहीं, देह की खबर नहीं, वैभव की खबर नहीं, कर्मबंध का पर्दा नहीं । जिस उपयोग में केवल शुद्ध चैतन्यमात्र ही प्रतिभासित होता है वह उपयोग आत्मा के ग्रहण करने वाला होता है । इस उपयोग में ऐसी सामर्थ्य है कि उस चित्स्वरूप को ढकने वाले किन्हीं भी पदों में न अटककर सीधा चैतन्यस्वरूप पर पहुंच जाता है ।

परिचयी के स्वरूप दर्शन में अबाधा का एक दृष्टान्त—जैसे बाजार में कुछ कार्ड ऐसे आते हैं कि जिनमें पेड़ ही पेड़ बने है, मगर वे पेड़ ऐसे शकल के बनाए गए हैं कि वहाँ जहाँ पत्ता, शाखा कुछ नहीं बने हैं, उन्हें ब्लैक बोलते हैं । उनमें शेर का चित्र, मोर का चित्र, गधे का चित्र बन जाता है । बना कुछ नहीं है किन्तु जो जगह छूटी हुई है पेड़ की रचना से उस जगह में भी चित्र मालूम देता है । ऐसे कार्ड बहुत बिकते हैं । किसी-किसी ने देखा भी होगा । उन कार्डों को देखकर अपरिचित आदमी को बताया जाये कि बताओ इस कार्ड में क्या है ? तो वह यह कहेगा कि ये पेड़ है । और भी है कुछ ? कुछ नहीं है, जब किसी उपाय से उसे बता दिया जाये देखो यों यह गधा हुआ ना गधा । अब उसे सीधा गधा दिखने लगा । अब उस कार्ड को लेना है तो उसका ज्ञान पेड़ में अटकता, न उसका ज्ञान पत्तियों में अटकता, उसका ज्ञान सीधा उस चित्र को जान लेता है ।

दृष्टान्तपूर्वक निर्बाध आत्मदर्शन का समर्थन—अथवा जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र होता है, वह न तो शरीर में पहिने हुए कपड़ों का फोटो लेता है, न चमड़े का फोटो लेता है, न मांस मझा का फोटो लेता है, केवल हड्डी का फोटो ले लेता है । यह एक्सरा यंत्र कहीं नहीं अटकता, इसी तरह जिस भेदविज्ञान पुरुष के ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि है कि भेदविज्ञान के बल से वह धन परिवार में नहीं अटकता, शरीर में नहीं अटकता, कर्मों में नहीं अटकता, रागादिक में नहीं अटकता, अपूर्व विकास में नहीं अटकता । औरों की तो बात जाने दो पूर्ण विकास परिणमन में भी नहीं अटकता । अहा, इस भव्यदर्शन से अन्य मुझे कुछ न चाहिए ।

जानन का जानन के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन का अभाव—जैसे घर के बड़े प्यारे कुंवर को किसी दूसरे के द्वारा दी गयी कुछ चीज न चाहिए । उसे तो कला चाहिए धान चाहिए । इस ओर ही उसकी धुनि है । इसी प्रकार इस अन्तरात्मा पुरुष को केवलज्ञान भी न चाहिए, अनन्त सुख भी न चाहिए, पूर्ण विकास भी न चाहिए, उसकी तो सहजस्वभाव पर दृष्टि हो गयी । किस लिए हो गयी ? इसका भी उसे कुछ प्रयोजन नहीं

है, पर जिस स्वरूप है, वस्तु जितनी है वह उसकी नजर में आ गया सो वह तो जानता भर है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते—जैसे मोटे शब्दों में लोक व्यवहार में यह अर्थ लगाते हैं कि हे आत्मन् ! तुम किए जावो, करने का तुम्हें अधिकार है, फल में अधिकार नहीं । फल मत चाहो । यह बात जिस चाहे पदवी में रहने वाले मनुष्य में घटा लो । परोपकार करने वाले मनुष्य को भी यह कह लो कि तुम कर्तव्य किए जावो—फल मत चाहो । तुम्हारा फल में अधिकार नहीं है, तुम्हारा काम में अधिकार है । अच्छा उस लोकव्यवहार की चर्चा से और ऊपर आइए ।

योगी की अनीहा—जो योगी पुरुष है उसको कहा गया है कि तुम अपने जप, तप, ब्रत, नियम, ध्यान संध्या सब किए जावो, फल कुछ न चाहो । फल में तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं है । उससे भी और ऊँचे चलकर एक ज्ञानी पुरुष में पहुंचिये । तुम अन्तर में विवेक किए जावो, भेदविज्ञान किए जावो, फल कुछ मत विचारो । इससे भी और ऊँचे उस अन्तरात्मा को देखो कि कुछ विकल्प ही नहीं उठाता, केवल ध्रुव चित्स्वभाव के देखने की ही जिसकी वृत्ति बनी हुई है वहाँ फल में मेरा अधिकार नहीं, ऐसा भी विकल्प नहीं, मुझे कुछ कर्तव्य करना चाहिए यह भी तरङ्ग नहीं किन्तु जब **झक्काटा** हो गया, जब दृष्टिगत हो गया परमार्थ सत्त्व, तो वह बस देख लेता है कि काहे के लिए देखना है, यहाँ कुछ बात नहीं है । देकर भी कुछ करेगा यह भी बात नहीं है । यह द्रव्य कर्म से भी युक्त होना चाहे यह भी बात नहीं है, वह अपना पूर्ण विकास चाहता है यह भी बात नहीं है । उसको तो जो परमार्थ सत् है वह ज्ञान में आ गया, सो ज्ञान ही करता जाता है । ऐसे इस विशुद्ध चैतन्य में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है । चीज चलते-चलते बहुत अभेद तक पहुंच गयी ।

परिचयी के लिये शब्दों की वाचकता—भैया ! यह चर्चा अपनी है । पर अपनी बात का, अपनी अन्तर्विभूति का परिचय जिनको बिल्कुल नहीं होता उनको तो ऐसा लग सकता है कि क्या कहा जा रहा है? कुछ रटा हुआ होगा वही बोला जा रहा है । कुछ भाव की बात तो नहीं मालूम होती है, परन्तु जिन्हें अपने अन्तर्वैभव का परिचय है ऐसे चित् प्रकाशमात्र अनुभव की जिन्हें झलक हुई है उनके लिए तो ये शब्द भी न कुछ चीज है । इन शब्दों के द्वारा इतनी बड़ी बात कही जा रही है । इतनी बड़ी बात को बताने वाले कोई शब्द नहीं है, जिसको आप अपने अन्तर में जान रहे हो ।

शब्दों द्वारा भावानुभूति का एक दृष्टान्त—मिश्री का जिसने बहुत-बहुत स्वाद लिया उनके लिए इतना ही कह देना काफी है कि मिश्री बहुत मीठी होती है । इतना ही सुनकर उन्हें अनुभव हो जायेगा, गले से थोड़ा पानी भी उतर जायेगा, कुछ जीभ भी पनीली हो जायेगी और जिसने कभी मिश्री का स्वाद नहीं लिया, उनके आगे खूब समझाइए मिश्री बड़ी मीठी होती है, गन्ने से भी ज्यादा मीठी क्योंकि गन्ने के रस से जब बहुत रंग मैल निकल जाता है तो राब बनता है और उस राब से भी जब बहुत-सा मैल निकल जाता है तब आकर शक्कर बननी है । जिसने मिश्री नहीं चखी वह पलक उठाये, आखें फाड़े, पर उसे रंच भी मिश्री का स्वाद नहीं आता है । उसे कितना भी समझाया जाये कि गन्ने के रस से बहुत मैल निकलकर राब बनता है । उस राब से बहुत-सा मैल निकल कर शक्कर बनती है, उसमें मे भी मैल निकाल दिया जाता है तब जाकर उस शक्कर

से मिश्री बनती है। इतर्नी चर्चा करने पर भी वह आंखें फाड़ेगा पर उसे मिश्री का रंच भी स्वाद न आयेगा। जीभ पनीली न होगी, थूक गले से न उतरेगा।

अप्रतिबुद्ध के प्रतिबोध का उपाय—इसी तरह आत्मा के उस परमार्थ सहजस्वभाव का जिन्हें परिचय होता है उनको एक ही बात कुछ कह दें बस उसने ज्ञायकस्वरूप को अपने उपयोग में ले डाला। प्रकाश, चित्स्वभाव, सहजस्वभाव किन्हीं भी शब्दों में बोल लो—वह उस समय परमात्मतत्त्व को उपयोग में लेता है किन्तु जिन्हें इसका परिचय नहीं है वे चित्रित से देखते रहें, सुनते रहें, क्या बात हो रही है, क्या कहा जा रहा है, क्या ऐसे ही शास्त्र पढ़ा जाता है, क्या हो रहा है। उसकी दृष्टि में न उतरेगा। तब उनके प्रतिबोध के लिए यह सब व्यवहार का प्रसाद है। उन्हें गुणभेद बताया जायेगा, धर्मभेद बताया जायेगा, कारक भेद बताया जायेगा। अध्यात्म विद्या का अ, आ भी सिखाया जायेगा। ये सब बातें चलती हैं।

प्रतिबुद्ध का संकेत—भैया! व्यवहारभाषित उपदेश के इन सब उपायों से यथार्थ जानकारी होने के पश्चात् उसके लिए संकेत ही काफी है। न भी शब्द बोले तो संकेत भी प्रतिबोधक है। कोई पुरुष अपने हाथ से शांति की मुद्रा के साथ यदि अपनी छाती पर आत्मतत्त्व बताने का संदेश करता है तो उस संकेत के देखने वाले इस ज्ञायकस्वरूप भगवान को समझ जाते हैं, शब्द की बात तो दूर रही। तो जो प्रतिबुद्ध पुरुष है उनकी गोष्ठी की यह कथा हो रही है कि यदि कारकभेद से, धर्मभेद से, गुणभेद से भेद किया जावे वह भी उसी के प्रतिबोध का उपाय है। परन्तु इस विभुभाव में इस विशुद्ध चैतन्य में कोई प्रकार का भेद नहीं है। यह अनादि है, अखंड है, द्रव्य से अखण्ड है, क्षेत्र से अखण्ड है, काल से अखण्ड है, भाव से अखण्ड है।

अपने शरण का अवगम—आत्मतत्त्व को द्रव्य से भी खण्डित नहीं किया जा सकता है वह तो जो है सो है, क्षेत्र, काल, भाव से भी खण्डन नहीं है। जानने वाले जानते हैं और जब तक यह जानने में नहीं आता तब तक अवधान नहीं रहता, सावधानी नहीं रहती। अपने को कहां बैठाना है, कक्षा लगाना है, कहां शरण मानना है, कहां रूसि पाना है? वह स्थान है यहीं विशुद्ध चित्स्वरूप। इसकी निरन्तर आराधना से समस्त बंधन अवश्य कट जाते हैं।

साधारणज्ञान, पर्यायज्ञान, स्वरूपज्ञान व भेदविज्ञान—पहले नाना प्रकार के ज्ञान से एक साधारण ज्ञान करना आवश्यक है, पश्चात् पर्याय भेद की मुख्यता से यह संसारी है, यह मुक्त है यह जीवसमास है, यह गुणस्थान है, आदि का ज्ञान करना चाहिए। फिर वस्तु के स्वरूप का द्रव्य, गुण, पर्याय की शैली से ज्ञान करना चाहिए। वस्तु स्वरूप के अवरोध के अभ्यास के पश्चात् फिर भेदविज्ञान जागृत होता है, उस भेदविज्ञान के बल से अपने आपमें अपने स्वरूप को जानकर समस्त पर और परभावों से भिन्न जानना चाहिए। ये जो धन वैभव जड़ और समानजातीय पर्यायें हैं उनसे इस आत्मा का रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

कल्पना का ऊधम—भैया! कल्पना का ऊधम तो एक विचित्र ऊधम है। जिस चाहे अत्यन्त भिन्न चीज को कल्पना से अपना समझ लेते कि यह मेरा है, इसको पागलपन कह लो या ऊधम कह लो, चोर-चोर मौसेरे भाई हुआ करते हैं, इसी तरह मोही-मोही जीवों की परस्पर में दोस्ती बन गयी है, इसलिए एक दूसरे के पागलपन की बात को पागलपन की दृष्टि से नहीं देखते हैं इसको तो ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं कि

क्या व्यर्थ का पागलपन और ऊधम मचा रखा है कि जिसे चाहे भिन्न वस्तु को जिसे चाहे मन चाहे उसको ही अपना मानता है।

उत्तरोत्तर प्रखर भेदविधान—इस धन वैभव जड़ पदार्थ से मेरा आत्मा अत्यन्त भिन्न है, इसे और भी भेदविज्ञान से देखो कि अन्य की तो कहानी ही क्या? यह शरीर जो मेरे एकक्षेत्रावगाह में है, इस शरीर से भी मैं जुदा हूँ। यह अचेतन है, और शरीर के नाते तो समानजातीय द्रव्यपर्याय है और भव के नाते से असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। मैं सो भौतिक पदार्थ के लेप से रहित हूँ, फिर और भेदविज्ञान किया तो जाना कि शरीर तो एक जिन्दगी का साथी है किन्तु द्रव्य कर्म यह एक जीवन का साथी नहीं, किन्तु अनेक जीवन में यह साथ चला करता है। सो चिरकाल तक साथ निभाने वाला द्रव्य कर्मपिंड भी चुकता अचेतन है। उससे भी भिन्न यह मैं चैतन्य पदार्थ हूँ। फिर भेदविज्ञान से और आगे बढ़कर देखा कि रागादिक भाव को यद्यपि उस काल में मेरा ही परिणमन है उपाधि का निमित्त पाकर ही रागादिक रूप परिणत होता है तिस पर भी ये रागादिक परिणमन मैं नहीं हूँ। मैं इन सबसे भिन्न शुद्ध चित्प्रकाश हूँ।

अपूर्ण और पूर्ण विकास से भी विविक्तता—भैया, कुछ और गहराई में चले तो इस शुद्ध चैतन्य का, ज्ञानदर्शन गुण का वर्तमान में जो कुछ अल्प विकास चल रहा है, जिससे कुछ जानकारी भी हो रही है। कुछ शांति, तृप्ति, आनन्द भी कदाचित् होता है ये सब परिणमन भी मैं नहीं हूँ। यह अधूरा परिणमन है। मैं तो चित्प्रकाश मात्र हूँ। अब आगे की बात भी देखिये। यह अपने स्वभाव को देखने से यह निर्णय कर चुका कि निकट भविष्य में मेरे पूर्ण विकासरूप परिणमन होगा। किन्तु वह पूर्ण विकासरूप परिणमन भी मैं नहीं हूँ, वह भी कभी होता है और वह सूक्ष्म रूप से क्षण-क्षण में बदलता रहता है, सदृश-सदृश परिणमता रहता है, वह भी मैं नहीं हूँ। ऐसे भेदविज्ञान के अभ्यास से उन सब अधूरे तत्त्वों को छोड़कर पूर्ण विकास से भी परे एक उस ध्रुव आत्मा को ग्रहण करता हूँ।

यहां सामान्य रूप से इस ज्ञानी ने आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया, इसका वर्णन चला था। अब विशेष रूप से यह आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करते हैं या विशेष रूप से किस प्रकार ग्रहण किया, ग्रहण किया जाना चाहिए। इस जिज्ञासा के समाधान में श्री कुन्दकुन्दाचार्य अब अगली गाथा कहते हैं।

गाथा २९८

पण्णाए धेत्तव्वो जो दट्टा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्ज्ञ परे त्ति णायव्वा ॥२९८॥

प्रज्ञा द्वारा आत्मा का विशेष पद्धति से ग्रहण का उपक्रम—जैसे प्रज्ञा के बल से उसने निज तत्त्व में और परतत्त्व में भेद किया था, वैसे ही प्रज्ञा के बल से परतत्त्व को छोड़कर निज तत्त्व को सामान्यरूप से ग्रहण किया था, उस ही प्रकार प्रज्ञा के बल से अब उसका विशेष प्रकार से ग्रहण किस प्रकार होता है? इसका वर्णन इस गाथा में है। पहिले तो यह जाना था, यह समझा था कि मैं चेतता हूँ, और इस चेतने वाले को ही चेतता रहता हूँ। जैसा षट्कारक रूप में इसका वर्णन है। चेतना एक सामान्य तत्त्व है, इसलिए

चेतना के सम्बन्ध में जो वर्णन हुआ वह सामान्य रूप से आत्मा का ग्रहण रूप वर्णन है। अब उस चेतना का विशेष वर्णन करते हैं। चेतना के विशेष हैं दो—दर्शन और ज्ञान। जब सामान्य से उठकर विशेष की ओर आता है तो उन विशेषों में तारतम्यरूप से जो कर्म हों उसको पहले कह जाना चाहिए। चेतना के विशेष दो हैं—दर्शन और ज्ञान, किन्तु इन दोनों में भी सामान्य कौन है? दर्शन। इसलिए इसके बाद दर्शन की बात कही जा रही है।

आत्मा का द्रष्टारूप में ग्रहण का उद्यम—प्रज्ञा के द्वारा ऐसा ग्रहण करना चाहिए कि जो द्रष्टा है वही में निश्चय से हूं, इसके अतिरिक्त समस्त भाव मुझसे पर हैं, इस तरह प्रतिभासना, द्रष्टा होना ज्ञाता होने की अपेक्षा सामान्य परिणमन है, और वह निर्विकल्प परिणमन है। जैसे दर्पण को हमने देखा—जिस दर्पण में कई पुरुषों की छाया पड़ रही है, प्रतिबिम्ब हो रहा है। हम उस समय केवल दर्पण को ही देख रहे हैं, पर दर्पण को देखते हुए हम दर्पण में बहिर्मुख सम्बन्धी ज्ञान करते हैं, यह इस लड़के का चित्र है तो वह है ज्ञान का दृष्टान्त। और उस छायारूप परिणत दर्पण में जिसकी छाया है ऐसी अपेक्षा न करके, ऐसा ज्ञान न बना करके जैसा परिणत हो वह दर्पण है उस प्रकार ही हम देख रहे हों तो वह दर्शन का दृष्टान्त है।

आत्मा को ज्ञाता व द्रष्टारूप में देखने की दृष्टि—हमारी आत्मा में स्व-पर प्रकाशकत्व है। हम परपदार्थों के सम्बन्ध में भी जानकारी रखते हैं, प्रतिभास करते हैं, और स्वयं का भी हमें कुछ निर्णय स्पर्श बना रहता है। इन दोनों बातों में से जब हम ज्ञेयाकार परिणमन की मुख्यता करके अपने स्वरूप से बहिर्मुखी वृत्ति बनाकर जब हम प्रतिभासा करते हैं तब तो है हमारा वह ज्ञातारूप, हां, इस ज्ञातारूप के मर्म में रागद्वेष का विकल्प न होना चाहिए। रागद्वेष की पकड़ से तो रहित हो किन्तु जानन की पकड़ से सहित हो तो वह है ज्ञाता रूप, और जैसा कुछ हम अपने में परिणम रहे हैं उस रूप से परिणत अपने आत्मा को एक झलक में करना, उसको स्पर्श करना, यह है द्रष्टा का रूप।

करना आत्म काम था करन लगे कुछ और—भैया ! यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको दृष्टा रूप में भा रहा है। कितना काम पड़ा है करने को अन्तर में, इस प्रकरण को जानना। ये घर के झाँझट, ये व्यवस्थाएं, प्रबंध, हिसाब, लोगों के ख्याल, ये सब मायारूप हैं जिसमें पड़े हो। पड़े बिना गुजारा भी नहीं चलता और पड़ना रंच भी न चाहिए। इस ज्ञानी गृहस्थ की ऐसी बड़ी मिश्र दशा है कि कभी वह अपनी इस काली करतूत पर सुखी होता है, इसको काली ही करतूत कहना चाहिए वो उस अपने स्वरूप से चिंगकर जहाँ लेनदेन नहीं, जहाँ कुछ सम्बन्ध नहीं, बात नहीं, हम ही खाली दीवालें बनाकर कल्पना करके अपने आपको एक कायर की भाँति नपुंसक से होकर अपने आपमें अपना कालापन बना रहे हैं, मलीनता बना रहे हैं। यह करतूत हमारी काली है, स्वच्छ नहीं है, हितरूप नहीं है।

सत्य ज्ञान का प्रवेश होने पर ही त्रुटि पर खेद सम्भव—सो भैया ! किसी इस ज्ञानी पुरुष को अपनी इस बहिर्मुखी वृत्ति पर खेद पहुंचता है, और यह खेद तभी पहुंचता है जब इस खेद करने वाले ने अपने अन्तर में अपने स्वभाव और गुण के अनुभवन का अनुपम आनन्द पाया हो, हर एक कोई बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर खेद नहीं कर सकता है। त्रुटि पर खेद नहीं कर सकता है जिसने सत्य आनन्द लूटा हो। कोई किसी बड़े

आदमी की पंगत भोजन करने जाये तो ऐसी आशा रखकर कि बड़े की पंगत है, वहां पर अनेक प्रकार के नवीन मिष्ठ भोजन मिलेंगे और वहाँ खाने पर मिलें उसे केवल चने की दाल और रोटी तो वह वहाँ कितना खेद करेगा, जो इस आशा को लेकर खाने को गया हो। अरे कहा फंद में आ गए। इससे तो घर ही रहते तो चार रुपये की कमाई भी कर लेते और यह खा भी लेते। तो उसे मालूम है उन मिठाइयों का स्वाद जिनको वह अपने भीतर में ध्यान में रख रहा है। जब उसे नीरस वस्तु का खेद हो रहा है, इसी तरह आत्मा के चैतन्यस्वरूप का, अनुपम स्वरूप का जिसने अनुभव किया है, जिससे बढ़कर आनन्दमय स्थिति और कुछ हो ही नहीं सकती है, ऐसे अनुपम स्वाधीन सहज आनन्द के अनुभव में लगने वाला ज्ञानी गृहस्थ अपने इस बाह्यविषयक कल्पना की काली करतूत जानता है व श्रद्धा सही रखता है ये समस्त पर व परभाव मेरे नहीं है, ये मेरे स्वरूप से भिन्न है।

आत्मा की दृशि-ज्ञति रूपता—यह अध्यात्मयोगी अपने दर्शन गुण द्वारा अपने आपको कैसे ग्रहण कर रहा है, चेतन सामान्य से उठकर यह विशेष में आया है। चूंकि चेतना सामान्य चैतन्यात्मक है। कोई-सा भी तत्त्व, कोई-सा भी पदार्थ न केवल सामान्यरूप है और न केवल विशेषरूप है। यदि चेतना सामान्यविशेषात्मकता का त्याग कर दे तो इसका अर्थ यह हुआ कि चेतना ही नहीं रही। चेतना नहीं रही तो यह आत्मा जड़ हो गया। जड़ क्या हो गया? आत्मा ही नहीं रहा। तो चेतना है दर्शनज्ञानात्मक। दर्शन ज्ञान का उलंघन करके चेतना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। इसलिए चेतना में द्रष्टापन और ज्ञातापन पड़ा हुआ है, और यह आत्मा का स्वलक्षण है। आत्मा द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है।

व्यावहारिक व आध्यात्मिकता की गतिविधि—भैया! दर्शन और ज्ञान में किसका नाम पहिले लेना? किसका नाम बाद में लेना सो जहाँ व्यावहारिकता का सम्बन्ध है वहाँ ज्ञान को पहिले बोलना, दर्शन को बाद में बोलना, और जहाँ आध्यात्मिकता का सम्बन्ध है वहाँ दर्शन को पहिले बोलना और ज्ञान को बाद में बोलना। जैसे प्रभु अरहंत भी हैं और सिद्ध भी है। इनमें पहिले किसका स्मरण होगा, बाद में किसका स्मरण होगा? व्यावहारिकता की भक्ति में पहले अरहंत का स्मरण करना और फिर सिद्ध का स्मरण करना। क्योंकि जो सिद्ध है उसका ज्ञान अरहंत की कृपा से हमें मिला है। इस प्रकार आत्मा में दर्शन है यह भी हमें ज्ञान की कृपा से मिला है, व्यावहारिकता में ज्ञान को पहिले कहना, दर्शन को बाद में कहना, किन्तु परमतत्त्व की भक्ति के प्रसंग में सिद्ध का स्मरण पहिले होता है और फिर सिद्ध स्मरण में कुछ थकान आने पर अरहंत का स्मरण होता है। इसी तरह आध्यात्मिकता के योग में प्रथम दर्शन का प्रतिभास होता है और दर्शन के प्रतिभास में थकान आ जाने पर संस्कारवश न टिकने पर फिर ज्ञान की खबर तो लेना ही पड़ता है। तो इस रीति से इस प्रकरण में दर्शन और ज्ञान में से प्रथम दर्शन की बात कही जा रही है।

दर्शनवृत्ति द्वारा आत्मग्रहण—मैं इस द्रष्टा आत्मा को ग्रहण करता हूँ। ग्रहण करना किसे? कोई पिंड रूप तो यह आत्मा है नहीं। जो हस्तपादादिक अंग से या किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कर लिया जाये, सो ग्रहण करना भी क्या है जो मैं ग्रहण करता हूँ वह मात्र देखता हूँ। अपने आपके द्रष्टा को देखने मात्र का नाम ग्रहण करना कहा है। हाथ से ग्रहण करना तो और तरह होता है और आत्मा के द्वारा आत्मा को ग्रहण

करना जानन देखन की पद्धति से होता है। देख लेना इसी मायने है ग्रहण कर लेना। मैं देखता ही हूँ। यही मेरा पूर्ण ग्रहण है। मैं स्वयं देखता हुआ ही देखता हूँ। केवल देखते हुए ही देखता हूँ।

दर्शनवृत्ति की इन्द्रियानपेक्षता—यहां जो ‘देखना’ शब्द हिन्दी का बोला जा रहा है उसका अर्थ आंखों से देखा जाना नहीं लगाना क्योंकि हम आंखों से देखा नहीं करते। लोकव्यवहार में बोलते हैं। आंखों से देखना बताना झूठ है क्योंकि आंखें हैं इन्द्रियां, इन्द्रियों के द्वारा सामान्य प्रतिभास कभी नहीं होता। विशेष प्रतिभास हुआ करता है। और विशेष प्रतिभास का नाम दर्शन नहीं है, ज्ञान है। जैसे हम कानों से कुछ जाना करते हैं, रसना से कुछ जाना करते हैं, नासिका से कुछ जाना करते हैं, इसी तरह आंखों से भी हम जाना करते हैं। देखा नहीं करते हैं किन्तु लोक में आंखों द्वारा जानने देखने की प्रसिद्धि हो गयी है। सो ऐसा सुनने में कुछ अटपट-सा लगता होगा। हम आंखों से कुछ भी नहीं देखते हैं, जाना करते हैं, काला, पीला, नीला, हरा, सफेद आदि रूप का जो जानन है वह श्रुतज्ञान है। काला को ही जानना, पर काला कहकर नहीं जानना सो आंखों के द्वारा जानना कहलाता है।

नेत्रेन्द्रिय द्वारा भी दर्शनवृत्ति की असंभवता—यह सुनकर आपको ऐसा लग रहा होगा कि इतना भी नियन्त्रण किया कि काला को काला न जानना, सफेद को सफेद रूप से न जानना, अन्यथा यह श्रुतज्ञान है, सविकल्प ज्ञान है। आम लिया और काला, सफेद यह चित्त में विकल्प न करना, वह तो बहुत सामान्य-सा ज्ञान बन गया, सामान्य प्रतिभास हो गया। अभी सामान्य प्रतिभास नहीं हुआ। आप अन्दाज कर लो कि आंख के द्वारा जो हमने जाना, काला पीला कहकर नहीं, विकल्प उठाकर नहीं, जाना वैसा ही, पर विकल्प उठाकर नहीं। उस जानन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सामान्य प्रतिभास होता है, उसे कहते हैं दर्शन। जो आंख की करतूत से बहुत भीतर की बात है।

दर्शन द्वारा ज्ञानबलग्रहण—अपने आपमें देखता हूँ, इस देखते हुए को देख रहा हूँ, ऐसा देखना सब जीवों के हो रहा है पर उस देखने के काम का विश्वास नहीं हो पाता इसलिए सम्यक्त के उन्मुख नहीं हो पाता। यह जीव जैसे कोई पुरुष जम्पिङ्क करे, कूदे ४-५ फिट, दो डंडों में डोर लगा दी, दोनों डंडों को दो बच्चों को पकड़ा दिया, कूदने का कार्यक्रम रखा। दसों विद्यार्थी कूदने के प्रसंग में है। कोई चार फिट कूद लेता है कोई ५ फिट कूद लेता है। वे कूदते हैं, उनके कूदने की विधि तो जरा देखिए। उचककर कूदते हैं तो बल जमीन पर बहुत तेज देकर कूदते हैं। अरे उचकने में उन्हें ऊँचा ही तो उठना है, पर ऊँचा उठने से पहिले जमीन में सीधे बल क्यों देते हो? पर कोई करे ऐसा कि जमीन पर नीचे तेज बल दिए बिना ऊँचा कूदकर दिखाए। पक्षी भी तो लड़ते समय जमीन पर बल देते हैं। इसी प्रकार हम आपके बाह्य पदार्थों की ओर जानने की कूद करके ऊँचे उठते हैं। उस समय हम अपने आपमें उस कूद का बल पाने के लिए अपनी ओर झुक करके कूदा करते हैं। पर ऐसा झुकना सबको मालूम नहीं है। झुककर ही तो कूदते हैं। पर झुकने का ग्रहण नहीं है।

ज्ञानवृत्ति में दर्शनवृत्ति का अपूर्व सहयोग—एक पदार्थ को जानने के पश्चात् दूसरे पदार्थ को जब हम जानते हैं अर्थात् पहिले पदार्थ की जगह से उठकर दूसरे पदार्थ पर अपन उठा करते हैं उस समय हम अपने

आपकी ओर झुका करते हैं। उस ही का नाम दर्शन है और उस दर्शन की वृत्ति से हमें ज्ञान के लिए बल मिलता है। उस दर्शन की बात यहाँ की जा रही है।

दर्शनवृत्ति की अभिन्नषट्कारकता—मैं देखते हुए को देखता हूँ, दर्शन की स्थिति में देखते हुए को देखता है, यह नहीं अनुभव रहे वे। यह तो ज्ञानी कह रहा है, तीसरा पुरुष कह रहा है, दूसरा पुरुष कह रहा है, जो दर्शन में परिणत हो वह द्रष्टा को देख रहा है, मैं खेलते हुए को देख रहा हूँ। इस जानन की क्रिया में जो कुछ है वह मैं ही हूँ। मैं देखते हुए के द्वारा देख रहा हूँ। देखते हुए के लिए ही देख रहा हूँ। कहाँ से? इस देखते हुए से देख रहा हूँ। किसमें? इस देखते हुए में देख रहा हूँ। ऐसे मात्र दर्शन सामान्यरूप परिणमन को आत्मा का ग्रहण कहते हैं।

अभेद वस्तु में कारकभेद की जबर्दस्ती—यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा इस समय प्रज्ञा द्वारा दर्शन गुण के परिणमन रूप में अपने को ग्रहण कर रहा है। वहाँ वह इस प्रकार परिणम रहा है, ज्ञानी पुरुष की भाषा में उसकी वृत्तियां हो रही हैं कि मैं देखता हुआ उस देखते हुए को देखते हुए के द्वारा देख रहे के लिए देखते हुए से देख रहे में देख रहा हूँ। पर यहाँ तो वह एक ही है और उसकी वृत्ति एक है। यहाँ हमारे कारक के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं है।

अभेद वस्तु में कारकभेद किए जाने का एक उदाहरण—जैसे कोई कहे कि यह कलई या चूना सफेद हो रहा है और सफेद हो रहा यह चूना सफेद हो रहे अपने को सफेद हो रहे के द्वारा, सफेद हो रहे के लिए सफेद हो रहे से सफेद हो रहे में सफेद करता है। बात तो यथार्थ है पर सुनने में यों लगता कि यह सब बकवास है। अरे वह है और सफेद है। इतनी तो बात है और उसको घुमाव फेर से क्या कहा जा रहा है? कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। अतः हम तो यह जानते हैं कि यह सफेद है। बस न यह सफेद को सफेद कर रहा है, न सफेद के द्वारा कर रहा है, न सफेद के लिए कर रहा है, न सफेद को कर रहा है। हमें तो स्थिरता से यह नजर आता कि यह सफेद है। और हो ही क्या रहा बवाल? कुछ भी नहीं।

अभिन्न षट्कारकता से एक मात्र भावना समर्थन—इसी प्रकार इस दर्शन द्वारा आत्मा के ग्रहण में यहाँ कुछ नहीं हो रहा। न मैं देख रहा हूँ, न देखते हुए को देख रहा हूँ, न देखते हुए के द्वारा देख रहा हूँ, न देखते हुए की ओर देख रहा हूँ? न देखते हुए से देख रहा हूँ, न देखते हुए को देख रहा हूँ किन्तु सर्व विशुद्ध दृशि मात्र भाव, दर्शन भावमात्र सत् हूँ। इस प्रकार चेतना सामान्य की क्रिया से आत्मा के ग्रहण की बात बताकर, इस चेतन के विशेष में दर्शन गुण के द्वारा आत्मा के ग्रहण की बात बताकर अब ज्ञानगुण द्वारा आत्मा में ग्रहण की बात कहते हैं।

आत्मा की ज्ञानप्रधानता—आत्मा में ज्ञान एक प्रधान गुण है। ज्ञान से ही सारी व्यवस्था है, ज्ञान से ही सब गुणों का अनुभव है, ज्ञान द्वारा ही हम सुखों को भोगते हैं। यदि आत्मा में सब गुण रह जायें, एक ज्ञान गुण न हो तो बहुत वे सब बेकार हैं, कुछ बात भी न बनेगी। ज्ञान न हो और हम सुख का अनुभव करें यह कैसे कर सकते हैं?

आत्मवृत्तियों की ज्ञानग्राहिता—बचपन की एक घटना हैं—कोई दृ॥ वर्ष का होऊँगा? तो उस समय

देहात में स्कूल न थे । एक पटवारी हमें पढ़ाता था, १२ आने महीना देते थे, सभी लड़के देते थे, जिससे मास्टर साहब का काम चल जाये । १५ दिन में एक दिन सीदा देते थे, यह रिवाज था और पढ़ने का रिवाज था कि पढ़ते जावो । यह पुस्तक खत्म कर ली तो अब दूसरी पुस्तक ले ली । दूसरी पुस्तक खत्म हो गयी तो तीसरी ले ली । यहाँ समय की कैद नहीं थी कि यह पुस्तक साल भर में पढ़ना है, पढ़ने वाला दो महीने में पढ़ ले । तो उस समय बड़ी विशुद्ध पढ़ाई का रिवाज था । एक दिन पाठशाला में कुछ लड़के पिटे, लड़कों को पिटता हुआ देखकर दूसरे दिन हमें भय लगा कि कहीं हमारे पिटने की नौबत न आए । सो उस दिन मैं पढ़ने न गया । तो उस समय का रिवाज था कि जो बच्चा पढ़ने न आए उसको लेने के लिए एक दो बच्चे भेजे जाते थे और अगर वह शरीर से वजनदार है तो चार बच्चे भेजे जाते थे । एक टांग पकड़े और एक हाथ पकड़े, पकड़कर ले चले यह पद्धति थी बच्चों को ले जाने की । अब हम न गये उस दिन, तो आ गए दो दूत । फिर भी हम न जायें, तो सुबह के समय पराठा और मक्खन का भोजन था, उसे बोलते हैं देहाती नाश्ता । नाश्ता करते में स्कूल की इनक्वारी करने पर मां ने मेरे मार दिया तो मैं रोता-रोता सोच रहा था कि यह काठ का खम्भा जो आंगन में खड़ा है, जिसके सहारे मट्टा की मथानी फिरायी जाती है कि यदि मैं यह खम्भा होता तो आज पिटने की नौबत न आती, हम जो हुए सो बुरे हुए । इससे तो मैं यदि खम्भा होता तो अच्छा था । पिटता तो नहीं ।

चेतना की विशेषता—ठीक है भैया ! नहीं पिटते अचेतन, पर मैं आनन्द का अनुभव तो नहीं है—जैसे है तैसे हैं । दुःख के साथ सुख है, टोटे के साथ लाभ है—तो क्लेश के साथ आनन्द है । एक दृष्टान्त में लगता तो ऐसा है कि हम यदि परमाणु सत् होते तो अच्छा था । काहे को चेतन सत् हुए । अरे यदि मैं परमाणु सत् होता तो ज्यादा से ज्यादा कोई लोग मुझे जला डालते, चौकी आदि स्कंध मैं होता तो लोग जला देते । जला दो—जला देने पर भी इस अचेतन का क्या बिगड़ा? बिगड़ तो है अपने इस चेतन तत्त्व का, लेकिन यह बिगड़ कायरता की बात है ।

विश्व में प्रज्ञा का महत्त्व—विश्व में सर्वोत्कृष्ट पदार्थ चेतन है, जिसका बड़ा ऊँचा प्रताप है, जो अपने ज्ञान द्वारा सारे विश्व को अपने एक कोने में डाल लेता है । जिसमें समस्त विश्व जाना जाता है, उससे उत्कृष्ट चीज किसको बताया जाये । ऐसा यह ज्ञान गुण वाला आत्मा जब तक प्रज्ञा भगवती की प्रसन्नता नहीं पाता है तब तक संसार में जन्म मरण के चक्र लगाता रहता है । इस भगवती प्रज्ञा का ही नाम—दुर्गा सरस्वती, चंडी आदि देवी देवताओं के नाम है । ये सब कोई अलग से ऐसे नहीं है, लक्ष्मी आदि समस्त देवियां कोई अलग से ऐसी नहीं बैठी हैं जैसी लोगों ने चित्रों में ढाल दी हैं । किसी को हाथी माला पहिना रहे हैं, किसी के पास हंस बैठा है, कोई गरुड़ पर सवार है, कोई अश्वमाला पहिने है, कोई जीभ निकाले हैं ऐसी देवियां कहीं बाहर नहीं हैं ।

कल्पना की असद्बूपता—भैया ! कल्पना के लिए तो किसी भींत के बड़े धब्बे पर यह ध्यान लगा लो कि यह हौवा आया । हौवा का ख्याल कर लिया तो वह हौवा उसके लिए बन जाता है, डरावना भूत बन जाता है । अंधेरी रात्रि में जिसके घर में कोई गुजर गया हो और उस गुजरे हुए को अपने मन में चित्रण

करें तो ऐसा लगता है कि अरे यह भूत बनकर आ गया । तो आ गया भूत । कल्पना की बातें तो सारी बेढ़ंगी चलती हैं ।

कल्पना से विडम्बनायें—भैया ! भूत प्रेत वगैरह जो लोगों को लग जाते बनाते हैं उनमें ९७ प्रतिशत तो सब या तो भ्रम की बात है या जानबूझकर बुद्धिमानी की बात है । भ्रम की बात तो यों है कि कल्पना में बैठाया है कि लो मुझे तो लग गया कुछ; बस उसके लग गया । जैसे किसी ने अपनी जिन्दगी में सुन रखा हो कि ईश्वर एक दो यमराजों को भेजता है इस देह से जीव को निकालने के लिए—तब यह मरता है तो मरते समय उसे यों ही दिखता है कि वह यमराज तलवार लिए है—सो वह डरता है, चिलाता है । सो इस तरह तो बहुत सी भ्रम की बातें हैं, वहां है कुछ नहीं । और बहुत सी चतुराई की बातें हैं । जिस घर में दो तीन स्त्री हो अब किसी एक स्त्री का चला नहीं चलता ज्यादा तो भूत प्रेत का ढोंग बना लेती है । बाल भी बिखरे हुए हों, धोती फटकार कर तनिक घमघमाकर आ जाये, कोई रूपक बना ले—लो आ पाया भूत, बस वे एक दो यमराजों उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो जायेंगी । अब नहीं बस चलता है कोई मानता नहीं हमारी, तो इसी विधि से मनाना है । सो कुछ यों लग बैठा है ।

भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा—सो कल्पना से यह जीव देवी देवताओं को कुछ न कुछ रूप में मान लेता है किन्तु वे सब इस भगवती प्रज्ञा के रूप हैं । भगवती मायने इस भगवान आत्मा की शुद्धपरिणति । कहीं मास्टर मास्टरनी की तरह, बाबू बबुआनी की तरह भगवान और भगवती नहीं होते । भगवान तो एक शुद्ध ज्ञान का नाम है और शुद्धज्ञान की जो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती । लोग कहते हैं कि भगवान की भगवती आधे अंग में है । शिव का आधा अङ्ग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधे अंग में है और चित्र भी ऐसा बना लेते हैं हि दाहिना अंग तो पुरुष का जैसा जानों । पुरुष जैसा एक पैर, पुरुष जैसा आधा पेट, वक्षस्थल और आधे अंग में एक टांग स्त्री जैसी, आधा पैट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसी । अर्द्धांग की कल्पना है । अरे भगवान की परिणति भगवती अर्द्धांग में नहीं रहती है किन्तु सर्वांग में रहती है । जितने में भगवान है, उन सब प्रदेशों में यह प्रज्ञा भगवती है ।

भगवती दुर्गा—इस भगवती का नाम दुर्गा क्यों पड़ा—दुःखेन गम्यते, प्राप्यते या सा दुर्गा । जो बड़ी कठिनता से मिल पाये उसका नाम दुर्गा है । मालूम हैं—धन, कन, कंचन सभी सुलभ हैं पर कठिनता से मिल सकने वाली यह भगवती प्रज्ञा है । यही सत्य दुर्गा है । इसकी प्रसन्नता प्राप्त करें । प्रसन्नता के मायने मुस्करा दें सो नहीं, हाथ उठा दें सो नहीं किन्तु प्रसन्नता का अर्थ है निर्मलता । प्रसन्नता का सही अर्थ है निर्मलता । प्र उपसर्ग है, सद् धातु है, कृत प्रत्यय लगा है फिर, तद्वित का ता प्रत्यय लगा सो प्रसन्नता बन गया । जिसका अर्थ है निर्मलता ।

प्रसन्नता का भाव—यदि कोई आपसे पूछता है कि क्यों भैया ! आप प्रसन्न हैं ना, तो उसने क्या पूछा कि आप निर्मल हैं ना? पर उत्तर क्या देता है वह कि हां मैं खूब प्रसन्न हूं, घर में चार पुत्र हैं, चार बहुवें हैं, इतने पोते हैं, खूब मौज है, खूब प्रसन्न हूं । प्रश्न क्या किया कि तुम मोहरहित हो या नहीं । उत्तर उल्टा दिया उसने । पूछा कुछ, बोला कुछ वह बहिरों की बात है । पूछने वाला भी बहिरा, उसने भी सुन लिया ठीक है

। जो कहता होगा सो ठीक है और यह सुनने वाला भी बहिरा है । रखने अपने मन माफिक जाता कि इसने यह ही पूछा होगा । शब्दों का अर्थ न जानने वाले बहिरों की ये बातें हैं । उसने पूछा कि तुम प्रसन्न हो ? उसने कहा हां खूब मौज है खाने का, पीने का, लड़कों का, पोतों का ।

बहिरों का वार्तालाप—एक छोटा सा कथानक है कि एक किसान बाजार से भुट्टा खरीदकर ले गया । लिये जा रहा था । रास्ते में एक खेत जोतने वाले बहिरे किसान ने उससे पूछा । वह किसान भी बहिरा और भुट्टा लिये जाने वाला भी बहिरा । सो किसान कहता है कि भैया राम राम । उसने जाना कि यह पूछता कि क्या लिए जा रहे हो तो उसने उत्तर दिया कि भुट्टा लिए जा रहे हैं । फिर उस किसान ने पूछा कि घरबार के बाल बचे अच्छे हैं ना ? उसने यह जाना कि यह पूछता है कि इनका क्या करोगे ? सो कहता है कि सारों को भून कर खायेंगे याने भुट्टों को भून कर खायेंगे । तो देखो पूछना तो कुछ है और उत्तर कुछ देता है । तो यह तो बहिरों की बात है । प्रत्येक जीव प्रत्येक संकेत का, प्रत्येक शब्द का अपने मन माफिक अर्थ लगाकर तोष उत्पन्न किया करता है ।

भगवती सरस्वती—भगवती प्रज्ञा के ये सब नाम हैं दुर्गा, सरस्वती आदि । सरस्वती का अर्थ है—सरः प्रसरणं यस्या सा सरस्वती । जिसका फैलाव हो उसको सरस्वती कहते हैं । सबसे अधिक फैलाव किसका है? ज्ञान का । देखो—मोटी चीज बड़ी होती है कि पतली चीज बड़ी है । क्या आप इसे बता सकेंगे ? दुनिया मानती है कि मोटी चीज बड़ी होती है । अभी कोई मोटी बुवा आ जाये तो बड़ी जगह धेरेगी, तो वह बड़ी हुई । पतली चीज पतली रहती है, पर बात उल्टी है । मोटी चीज हल्की होती है और पतली चीज बड़ी होती है । कैसे ? अच्छा देखो ।

स्थूल से सूक्ष्म की विशालता—पृथ्वी मोटी चीज है या पानी मोटी चीज है ? पृथ्वी मोटी चीज है और पानी पृथ्वी से पतली चीज है । तो पृथ्वी का विस्तार बड़ा है कि पानी का विस्तार बड़ा है ? आजकल के भूगोल के विद्वानों से पूछ लो तो वे भी बतायेंगे कि पृथ्वी का हिस्सा छोटा है और पानी का हिस्सा बड़ा है । पृथ्वी के चारों ओर पानी है । चाहे जैनसिद्धान्त के वेत्तावों से पूछो । जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है और उसको धेरता हुआ समुद्र दो लाख योजन एक तरफ और दो लाख योजन एक तरफ है । यह उसका कितना बड़ा विस्तार है । और उससे दूना दूसरा द्वीप है उससे दूना दूसरा समुद्र है । इस तरह चलते-चलते अंतिम जो असंख्यातवां समुद्र है उसका जितना बड़ा विस्तार है उससे भी कम विस्तार असंख्यात समुद्र और द्वीपों का है । तो पृथ्वी से पतला पानी होता है । मोटी पृथ्वी पतले पानी में समा गयी ।

हवा की पानी से अधिक व्यापकता—और बतावो अच्छा, पानी पतला है या हवा पतली है? हवा पतली है । पानी जितने में फैला है वह सब हवा में समा गया । हवा उससे अधिक विस्तार वाली चीज है और आगे चलो—हवा पतली चीज है या आकाश पतला है बतावो आकाश पतला है तो इस अनन्त आकाश के मध्य में ही सारी हवा समा गयी है ।

हवा, आकाश और ज्ञान की उत्तरोत्तर व्यापकता—अच्छा अब यह बतावो कि हवा पतली है या आकाश पतला है या ज्ञान पतला है ? ज्ञान में ये समस्त अनन्त आकाश समा पाये हैं फिर भी ज्ञान भूखा

बैठा है और कह रहा है कि ऐसे अन्य अनन्त आकाश और हों तो उसकी थोड़ी सी भूख मिटती है । तब सबसे विशाल चौज क्या हुई ? ज्ञान । ज्ञान का फैलाव असीम है । इतने बड़े विस्तृत प्रदेश में हूं, उस परिणति का नाम सरस्वती है, न कि जैसे कि चित्र में दिखाया है ऐसी कोई जसवंतनगर के किनारे बैठी हुई सरस्वती नहीं है ।

भगवती चण्डी—इस भगवती प्रज्ञा की प्रसन्नता चाहिए। फिर सर्व सिद्धि प्राप्त समझिए। इसके चण्डी, मुण्डी कितने ही नाम हैं। चंडी क्या? चण्डयति, भक्षयति रागादि शत्रुन् इति चण्डी। जो रागादिक शत्रुवों को खा डाले उसका नाम चण्डी है। वह है यही भगवती प्रज्ञा। लोग कहते हैं कि गाय की पूँछ में ही तैतीस करोड़ देवता बसे हैं। अरे गाय की पूँछ में ही क्या? ये सब असंख्यात देवी देवता पड़े हुए हैं घट-घट में, पर उनका स्वरूप जानो तो यथार्थ। सबके दर्शन होंगे अंत में।

भगवती काली—इस भगवती प्रज्ञा का नाम है काली। ‘कलयति, प्रेरणति शिवमार्गी भवानि इति काली’—जो जीवों को मोक्षमार्ग की प्रेरणा दे उसे काली कहते हैं। वही है भगवती प्रज्ञा। इसको ही कहते हैं मुण्डी। ‘मुण्डयति इति मुण्डी।’ जो वैरियों का मूल से मुण्डन करे उसे कहते हैं मुण्डी। वह चमत्कार इस भगवती प्रज्ञा में है। अन्य अनेक नाम हैं—चन्द्रघंटा ‘अमृतस्रावणे चन्द्रम् घंटयति इति चन्द्रघंटा।’ जो अमृत बरसाने में चन्द्रमा से भी ईर्ष्या करे उसको कहते हैं चन्द्रघंटा अर्थात् अधिकाधिक अमृत बरसाये वह है चन्द्रघंटा। वह चन्द्रघंटा कहां मिलेगी? वह आत्मा में ही प्रज्ञा भगवती है जो अमृत बरसाती है।

भगवती प्रज्ञा का प्रसाद—भैया ! कोई कितना ही दुःखी हो, जरा ज्ञान को स्वच्छ बनाया और अपना वास्तविक रूप देख लिया—यह मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्यमात्र हूँ। इतना दृष्टि में लें तो सही, फिर एक संकट नहीं रह सकता है। लेकिन कोई मोह की कल्पना में ही हठ लगाए रहे तो उस पर फिर क्या बस है? दुःख है नहीं एक भी। पर हठ में अनेक झंझट बना रहे हैं, सो दुःखी हो रहे हैं। अब भगवती प्रज्ञा का प्रसाद इस जीव को प्राप्त होता है तब वह आत्मा और अनात्मा का परिचय पाता है, पश्चात् अनात्मा से उपेक्षा करता है और आत्मा को ग्रहण करता है। उस आत्मा के ग्रहण की यह चर्चा चल रही है। पहिले चेतना के रूप में कहा था, पश्चात् देखने के रूप में कहा और अब जानने के रूप में बात कही जाने वाली है। सो किस तरह से ज्ञान द्वारा ग्रहण करते हैं, यह बात अब कहेंगे ।

गाथा २९९

पण्णाए घित्तब्बो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्ज्ञ परे त्ति णादब्बा ॥२९९॥

ज्ञानवृत्ति द्वारा आत्मग्रहण—प्रज्ञा द्वारा अपने आपको इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो ज्ञाता है सो ही निश्चय से मैं हूं। ज्ञातृत्व भाव के अतिरिक्त अन्य समस्त जो भाव हैं वे मुझसे भिन्न हैं ऐसा ज्ञानना चाहिए। यह ज्ञानगुण द्वारा आत्मा को ग्रहण करने की बात कही जा रही है। ज्ञानमय आत्मा को ज्ञान से ज्ञानवृत्ति द्वारा ज्ञानरूप ग्रहण किया जाता है। मैं आत्मा को पाऊँ तो किस रूप पाऊँगा? ज्ञानरूप। तब मैं

इस ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूं और जो मैं इस ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूं वह मैं जानता ही हूं; और रूप ग्रहण नहीं करता। सो क्या जानता हूं। न जानता हुआ किसे जानूँगा? क्या राग करता हुआ जानता हूं? नहीं।

अभेद का भेदोपचार में मोटा लौकिक दृष्टांत—आत्मा को मैं जानता हूं। यह भेद गुण-गुण की अपेक्षा से किया जाता है कि आत्मा के ज्ञान है। जैसे हलुवा में क्या-क्या पड़ा है, क्या आप जानते हैं? धी पड़ा है, मीठा पड़ा है, आटा है। अच्छा आप बने हुए हलुवे से धी अलग कर दें, शक्कर अलग कर दें, आटा अलग कर दें फिर हलुवा ले आइए, उसमें धी दूसरा डालेंगे, वह धी ठीक नहीं है। अरे उस धी पड़े हुए हलुवे में धी भी हलुवा है, आटा भी हलुवा है और शक्कर भी हलुवा है। तो जिसका नाम हलुवा है, आटा भी हलुवा है और शक्कर भी हलुवा है। तो जिसका नाम हलुवा रखा उसकी बात देखो। जो केवल धी है, यह धी अलग मिल जायेगा, आटा अलग मिल जायेगा पर हलुवे का धी अलग न मिल जायेगा। हलुवा किसका नाम है जो हल-हलकर बनाया जाता है। उसको खूब घोटना पड़ता है, लगातार उसे चलाते ही रहना पड़ता है। चम्मच छोड़कर नहीं बैठ सकते। उस हलुवे की बात कही जा रही है। तो लोक में परीक्षा कराने के लिए एक चीज में भी भेदव्यवहार किया जाता है।

अभेद का भेदोपचार—इस प्रकार इस आत्मा के परिचय में भी भेद-व्यवहार किया जा रहा था, तो उस भेद कारक का व्यवहार यहाँ अभेद-कारकरूप से किया जा रहा है। पर ज्ञानीपुरुष को तो यह अभेदकारक भी पसंद नहीं है। सो बात आगे आयेगी। मैं जानता हूं। यह इनके अनुभव के समय की बात है और किसको जानता हूं? जानते हुए को ही जानता हूं। वहाँ और कुछ नहीं मिल रहा है, वहाँ जानता हुआ आत्मा मिल रहा है। कोई कहे कि यह तो बहुत सरल बात है। करना धरना कुछ नहीं है। जानन आत्मा ही जानने वाला बन गया और सारी बातें अपने आप बन गयी। यह तो कुछ कठिन नहीं है। हाँ यह वृत्ति आ जाये तो कठिन नहीं है। मगर इतना ही तो कठिन है कि कोई इस वृत्ति में आ जाये।

ज्ञातृत्व ही वास्तविक विजय—कोई बड़ा लड़ाकू बोला हमसे कौन लड़ेगा, उससे लड़ने के लिए कोई हिम्मत बना ले। सब पंचों में उसकी कुश्ती तय हो रही है। मगर वह एक शर्त रख रहा है कि देखो यह पहलवान जब अखाड़े में पहुँचे तब गिर जाये फिर उस पर विजय पाना तो हमारे हाथ की बात है। अरे तो गिर पड़े यही तो कठिन बात है फिर इसके आगे और विजय क्या करना है? यही तो विजय है। आत्मा का मात्र ज्ञातृत्व परिणमन बने इतनी ही तो विजय है। आत्मा में और करना क्या है? अरे करना तो इसलिए पड़ रहा है कि हम उल्टा बहुत लम्बे निकल गए हैं। वहाँ से लौटने के लिए ये ब्रत, तप, संयम ज्ञान सारी बातें करनी हैं। उससे लौटने के लिए ये करने पड़ते हैं। पर करने को तो कुछ ही नहीं। अपराध करते हैं तो हाथ जोड़ना पड़ता है। न करे कोई अपराध तो काहे का हाथ जोड़ना? उल्टा जो हम परोन्मुखता में गए सो परोन्मुखता छोड़ने के लिए, अशुभ पर को छोड़ने के लिए शुभ पर का आलम्बन करते हैं, पर आत्मा को तो स्वयं की वृत्ति में पर का शुभ, पर का आश्रय भी नहीं है।

धर्मोद्यम का मर्म ज्ञातृत्व परिणमन—बड़ा समारोह एक प्रीतिभोज का किया जाये जिस सारे समारोह

का टाइम १० मिनट है, पर पहिले से कितनी तैयारियां की जाती हैं, सामान इकट्ठा करना, लोगों को बुलावा देना, सबको बुलाकर हाल में बिठाना, ये सब नटखट सिर्फ १५ मिनट के लिए है जिस समय मौज से खा रहे हैं खत्म काम। तो यह धर्म का जो समारोह है रोज का या किसी नैमित्तिक समय का जो समारोह है उसमें कुल काम पाव सेकेण्ड का है। करना बहुत कुछ पड़ता है सब कुछ उपदेश सुनते हैं, उपदेश करते हैं और मूर्ति के समक्ष प्रणमन करते हैं, पूजन करते हैं, चर्चा करते हैं, फल केवल इतना ही है कि हमारी ज्ञानवृत्ति का परिणमन रहे, निज की झलक आए। जिस समय यह मैं अपने आत्मा को ज्ञानवृत्ति से ग्रहण कर रहा हूँ उस समय कैसे परिणत आत्मा को ग्रहण कर रहा हूँ। जानते हुए को ग्रहण कर रहा हूँ। वह जाननरूप नहीं वर्त रहा हो तो ग्रहण में नहीं आ सकता।

आत्मग्रहण में अभिन्नसाधनता—किस साधन के द्वारा मैं जानता हूँ। किस तैयारी के द्वारा मैं जानता हूँ? तो जानते हुए की तैयारी द्वारा जानता हूँ। वस्तुस्वरूप से परे बहुत आगे निकल जाने वाले व्यक्ति का लौटना किस प्रकार से हो रहा है? वह पहिले भेदकारक का व्यवहार करता फिर अभेदकारक का व्यवहार करता और फिर निज केन्द्र में मग्न होता है।

धारा का स्रोत में प्रवेश—समुद्र का पानी उठकर यहां वहां भटककर अंत में उसे शरण कहा मिलेगा? समुद्र में ही मिलेगा। आताप के द्वारा समुद्र का पानी भाप बनकर उड़ा, बादल बन गया। बादल के रूप में छितरे बितरे रहकर जगह-जगह डोला—हजारों मील कहीं भटक आया, जब वे छितरे बितरे बादल अपना घनरूप समुदाय पिण्ड जिसे कहते हैं। आज तो काले बादल हैं; पानी अवश्य बरसेगा, घनरूप बनने के बाद फिर बरसते हैं और बरसकर, पृथ्वी पर आकर ढाल से पानी नदी में मिलता है, और वह नदी ढाल से चलकर समुद्र में मिलती है। लो समुद्र का पानी एक साल तक इधर उधर भटकता रहा फिर वहीं आ गया।

निज के ज्ञान में ज्ञानघनता—परंतु भैया! यहाँ तो इस ज्ञानानन्दघन भगवान आत्मा का उपयोग अनादि से ही भटक रहा है। अनन्तकाल व्यतीत हो गए, टक्करें खा रहा है, कहां-कहां गया? इस लोक में ऐसा प्रदेश नहीं बचा जहाँ अनन्त बार जन्म और मरण न हुआ हो। ऐसा भटकने वाला उपयोग अब कभी अपने को घनरूप बनाता है, जब छितरा था तब तो भटकता रहा, जब छितरे ज्ञान को घनरूप बनाता है तब ऐसा होता है कि अब ठिकाने लगा उपयोग। घनरूप बनकर यह उपयोग अब अपने देश में बरसने लगा, प्रदेश में बरसने लगा। अब वे धारायें विनय के रास्ते से, नम्र रास्ते से, निचले रास्ते से वहीं बहकर जिस ज्ञानानन्द सागर से यह उपयोग निकला था उसी ज्ञानानन्द सागर में उपयोग मग्न हो गया। अब शांति हो गयी। तो ऐसा मैं जो जानता हूँ सो जानते हुए के द्वारा जानता हूँ। जानते हुए की स्थिति का साधन न मिले तो यह आत्मा ज्ञान में नहीं आ सकता।

अभिन्नसाधनता—भैया! यही अभिन्न साधन हो गया ठीक है, पर ऐसा करने का प्रयोजन क्या है? सट्टे वाले सोचते हैं कि जैसा भगवान सब जानता है वैसा मैं जानता होता वहीं नंबर बोलकर मैं करोड़पति बन जाता। भगवान् तो भोलाभाला है, जान रहा है, करता कुछ नहीं है। करने का विकल्प तो उनके राग

की बात है। कोई असलियत नहीं कर रहे। स्वानुभव के काल में जो मैं जानता हूं सो किसलिए जानता हूं? जानते हुए के लिए जानता हूं। जानते भर रहने के लिए जानता हूं। अरे इतने में ही इतने बड़े काम का प्रयोजन चुका दिया क्या? हां। इससे बढ़कर और कुछ आनन्द या वैभव नहीं है। मोह भाव में लोग समझते हैं कि मैंने यदि परिवार अच्छा पा लिया तो सारा वैभव पा लिया, या कोई धन सम्पदा पा ली तो मैंने बहुतसी सम्पत्ति प्राप्त कर ली। खूब कमाया, खूब पाया, पर अंतर में देखो तो पूरा टोटे में रहा। बड़ा भी सेठ हो कोई तो भी उसकी आत्मा तो ज्ञानमात्र है, सूना है, पर से रहित है, और सम्पत्ति में जो प्रेम बसाया उसका टोटा इसके पूरा बना हुआ है।

भिन्न प्रयोजन में क्लेश का उद्गमन—तो भैया! क्या करना है? जानना भर है। जानने से आगे बढ़े कि विपत्ति ही विपत्ति है। छोटा बच्चा जब तक जानने भर का प्रयोजन रख रहा है तब तक वह खुश मिजाज रहता है, जहाँ कुछ बड़ा हुआ और कुछ ग्रहण करने का प्रयोजन लग गया तो बीच-बीच में क्लेश होते रहते हैं। और जब बड़ा बन गया, गृहस्थ हो गया तब तो ग्रहण करने का प्रयोजन उसका और अधिक हो गया। तब सुख और चैन की क्षण बहुत कम रह पाता है। तो जानना भर यदि प्रयोजन रहे तो वहाँ आनन्द है। वहाँ जानने के प्रयोजन से आगे बढ़े कि क्लेश ही क्लेश हैं। मैं जानते हुए के लिए जानता हूं।

आत्मग्रहण में अपादान की अभिन्नता—यह जानन एक परिणमन है। यह जानन कहाँ से प्रकट हुआ? इस जानते हुए से ही प्रकट हुआ है। पानी का स्रोत निकला है सो वह कहाँ से निकला है? पानी भरी जगह से ही पानी निकला है। सूखे से तो पानी नहीं निकलता। भले ही ऊपर सूखा है मगर जहाँ से निकला है वह तो पानी का निकेतन है। वह जाननवृत्ति कहाँ से निकली है? इस जानते हुए से निकली है, न जानते हुए से नहीं निकल पाती। यही अपादान है।

अधिकरण की अभिन्नता—हाँ और मैं जानता कहाँ हूं? इस जानते हुए में जानता हूं। अपने आपमें अपने आपके स्वरूप देखने वाले को यह सब ज्ञात हो रहा है। जहाँ स्वरूप से भ्रष्ट हुआ, इन्द्रियों से भीख मांगी और बाहर जानने में लग गए तो वहाँ इस मर्म की खबर नहीं रहती और यहाँ सच जान पड़ता है कि मैं कमरे में बैठा हूं, इतने लोगों से कुछ कह रहा हूं, प्रयोजन के लिए श्रम कर रहा हूं। तो नाना भेद की बातें दृष्टिगोचर होने लगती हैं और ज्यों ही जिस क्षण अपने आपके इस एकत्वनिश्चयगत स्वरूप का दर्शन करते हों तो वहाँ वह अपने आपमें विश्रांत होने के उन्मुख होता है और जानता है—लो यह मैं इतना ही तो हूं, इतना ही तो कर रहा हूं, इससे बाहर और कुछ मेरा परिणमन नहीं है। यह स्वानुभव में प्रवृत्त अन्तरात्मा अपने आपको यों षट्कारक में ग्रहण कर रहा है।

अभिन्न षट्कारक बताने का प्रयोजन एकमात्र स्वभवन का प्रदर्शन—अब और अन्तर में चलिये, यहाँ यह अर्थ जो रखता है उस जानते हुए को जानता हूं, जानते हुए मैं जानता हूं, अरे यह कुछ अलग बात है क्या? ये तो सब कुछ हो ही नहीं रहे हैं। सिर्फ वहाँ ज्ञानमात्र भाव चल रहा है। अब और अन्तर में प्रवेश करके यह ज्ञानी अपने आपको जान रहा है क्या कि मैं नहीं जानता हूं। कहाँ जानता हूं? यह जाननभाव है, करने का क्या काम है? मैं जानता नहीं हूं—वह तो जानन भाव है। मैं न जानता हूं, न जानते हुए के

द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ; मैं तो एक सर्वविशुद्ध ज्ञानिमात्र भाव हूँ। इस प्रकार यह अन्तरात्मा जिसने कि पहिले स्वरूप परिचय द्वारा प्रज्ञा के प्रसाद से आत्मा को और विभावों को पृथक्-पृथक् कर देने के साथ प्रज्ञा के प्रसाद से रागादिक भाव बनने से हटकर एक चैतन्यस्वरूप आत्मा का ग्रहण कर रहा था और जैसे नये जोश में ऊँचा काम तुरन्त कर लिया जाता है इसी प्रकार इस अन्तरात्मा ने नये जोश में पहिले चेतन के सामान्य भाव द्वारा अपने आत्मा को ग्रहण किया था। अब कुछ समय बाद जोश जरा ठंडा हुआ तो चेतना के भेद में से दर्शन की प्रधानता से अपने आपको ग्रहण किया था। ठीक है। जोश में व जोश के ठंडे होने की स्थिति में यहाँ तीन प्रकार के ग्रहण आए। परन्तु इन तीनों प्रकार के ग्रहणों के फल में पाया वही का वही आत्मा।

चेतना में सामान्य-विशेषात्मकता का अनतिक्रमण—इस तरह आत्मा के ग्रहण की बात कह कर अब शास्त्र प्रकरण करने के लिए अथवा ग्रहण-विषयक परिणतियों की विधियों को कुछ विशेष जानने के लिए एक प्रश्न किया जा रहा है कि पहिले चेतना सामान्य के द्वारा अपने आत्मा को ग्रहण किया था उसके बाद फिर ज्ञान और दर्शन की प्रमुखता को ग्रहण किया। सो यह चेतना दर्शन और ज्ञान के विकल्प का उल्लंघन क्यों नहीं करती है, जिस कारण चेतनिता को ज्ञाता और द्रष्टा रूप में उपस्थित किया। चेतना ही रह जाती। यहाँ दर्शन और ज्ञान के विकल्प उठना क्या अवश्यम्भावी है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर में यह बताते हैं कि भाई, चेतना तो प्रतिभास स्वरूप है। जब समस्त वस्तुओं का यह न्याय है कि ये समस्त पदार्थ सामान्य-विशेष का उल्लंघन नहीं करते तो यह सर्वोत्कृष्ट व्यवस्थापक चेतना किसी न्याय का उल्लंघन कैसे कर दे इस कारण चेतना भी सामान्यविशेषात्मक है। अब उसमें सामान्यरूप तो दर्शन है और जो विशेषरूप है वह ज्ञान है। इस तरह चेतना भी दर्शन ज्ञानविकल्प का अतिक्रमण नहीं करता।

स्वभाव और स्वभावी की एकार्थता—आत्मा के ग्रहण के प्रकरण में प्रथम चेतनिता के रूप में आत्मा को पाया था, फिर उस चेतनिता के ग्रहण के बाद द्रष्टा और ज्ञाता के रूप में यह आत्मा ग्रहण किया गया है। यहाँ प्रश्न किया गया कि चेतनिता के रूप में आत्मा की प्राप्ति हुई, सो यह सब कुछ हो गया, फिर इसके बाद द्रष्टा और ज्ञाता रूप में उपस्थित करना क्यों आवश्यक हुआ? उत्तर में बताया है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक होती है। तो चेतना वस्तु भी सामान्यविशेषात्मक है और वस्तु स्वभावमात्र होती है। चाहे स्वभाव के दर्शन करें और चाहे वस्तु के दर्शन करें, दोनों एक बराबर है। स्वभावमात्र वस्तु होने के कारण स्वभाव भी सामान्यविशेषात्मक है। स्वभाव और स्वभावी ये दो कोई अलग चीज नहीं हैं। किन्तु समझने के लिए स्वभाव और स्वभावी का भाव है।

चेतना की सामान्यविशेषात्मकता के अभाव में अनिष्टप्रसक्ति—यह चेतना सामान्यविशेषात्मक है। यदि चेतना सामान्यविशेषात्मकता का उल्लंघन कर दे तो वह चेतना ही न रहेगी, वस्तु ही न रहेगा क्योंकि अच्छा ऐसा कोई मनुष्य बतलावों जो न तो इंसानियत रखता हो, और न जिसके हाथ पैर आदि भी हों, ऐसा कोई मनुष्य लावो अर्थात् सामान्य और विशेष से शून्य कुछ मनुष्य भी है क्या; कुछ भी चीज है क्या? नहीं, तो आत्मा भी सामान्यविशेषात्मक है। यदि सामान्यविशेषात्मकता न रहे तो चेतना ही न होगी और जब चेतना न

होगी तो तब अपना जो असाधारण गुण है वह ही न रहा तो वह बन गया अचेतन। इस चेतन में चेतना तो रही नहीं, तब फिर हो गया अचेतन और चेतन रहा ही क्या जो अचेतन कहने के लिए ही मिले क्योंकि वह सामान्यविशेषात्मकता न रही, चेतना न रही तो चेतना का अभाव ही निश्चित है।

चेतना की दर्शनज्ञानात्मकता की अनिवार्यता—अग्नि से गर्मी निकल जाये तो उसमें क्या दोष आ गया ? अग्नि ठंडी हो जायेगी और ठंडी क्या हो जायेगी, कहीं भी उसमें अग्नि न मिलेगी। गर्मी हो तो आग है और बुझा दिया, तब रह गया कोयला, अब उसे क्या कहेंगे? ईधन। इस लिए इन दोनों दोषों के भय से चेतना को दर्शनज्ञानात्मक ही मानना चाहिए। अब चेतना दर्शन ज्ञानरूप हो गयी तो जैसे चेतना की प्रमुखता से आत्मा का ग्रहण किया जाता था, अब दर्शन की प्रमुखता से और ज्ञान की प्रमुखता से आत्मा का ग्रहण होगा। इस ही द्रष्टा ज्ञाता को उक्त दो गाथाओं में बताया गया है।

द्वैतों में आद्वैत का उद्भव—यह चेतना एक अद्वैत है, उसका ही स्वरूपतः सामान्य-विशेषात्मकपना है। इस समय जरा यह तो देखो कि मूल में तो यह एक अद्वैत अपने स्वरूप मात्र यह तत्त्व है और जगत में तितर-वितर यह कैसे फैला हुआ है, सो इसका बुनियादी कारण क्या ? देखिए जब बुरा होने को होता है तो अपना भला भी बुरा होने के लिए मदद देने लगता है। यह आत्मा मूल में अखण्ड एक चेतनस्वरूप हुआ। पर इसका स्वभाव स्व-पर प्रकाशकपने का है ना, पर का प्रकाश भी करता है, पर का जानन भी किया करता है। तो लो अब अद्वैत हो गया। बड़ी विपदा, बड़ा विकार आ गया होगा; मगर यह अपनी सञ्जनता, अपना यह स्वरूप उस बड़ी विपदा के लिए मूल बन गया। सबके लिए मूल नहीं बना, सिद्धभगवान भी स्वपर प्रकाशक है, पर वह आपदा नहीं बनता, पर जिनका बुरा होनहार है उनके मित्र, भाई भी उनके बिगाड़ में किसी रूप में कारण बन गए।

अयोग्य उपादान में द्वैतस्वभाव से द्विविधाओं का विस्तार—कल्पना करो यदि यह आत्मा उस पर को जानने का स्वभाव ही न रखता होता तो फिर रागद्वेष आदि विभाव का प्रसंग ही कैसे मिलता ? तो पर का जानना यद्यपि हमारा स्वभाव है पर जब हमारे नीचे दिन हैं तो यह हमारा परप्रकाश रूप गुण भी हमारे रागद्वेष परिग्रह के लिए एक मूलरूप भूल का सहायक बन जाता है। विश्लेषण किया जाने पर यहाँ भी यह ज्ञानवृत्ति बंध का कारण नहीं है लेकिन हम तो यह चाहते थे कि हम किसी पर के जानन का स्वभाव ही नहीं रखते। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। थोड़ा मिला रागद्वेष परिग्रह को यहाँ से मौका। यह पर को जानता है तो रागद्वेष परिग्रही कुछ बन बैठा क्योंकि रागद्वेष का परिग्रहण पर को जाने बिना नहीं होता। सो यह अद्वैत चेतनस्वरूप आत्मा पहिले पर-प्रकाशक के रूप में द्वैत में बन गया।

विकल्पधाराओं का विस्तार—अब यह तो थी एक शुद्ध अन्तर में शुद्ध द्वैतपन की बात, परन्तु इसकी जड़ पर अब अशुद्ध द्वैतपना लद जाता है। फिर और अंतरङ्ग बहिरङ्ग कारण जुटने के साथ इस पर रागद्वेष का परिग्रहण हो गया। जब रागद्वेष का परिग्रहण हो गया तो कार्यकारक के द्वारा यह फल का भोगने वाला हो गया। मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ। अहो कहां तो केवल जगमग रहना काम था और कहां ये करने और भोगने के विकल्प आ गए। जहाँ पर भोगते हुए भी परपदार्थ भोगे नहीं जा रहे हैं। कौन विषयों को भोगना

है ? भोगने का विकल्प बनाकर जीव भुगा जा रहा है । विषयों को कौन भोगता है ? विषयों को भोगकर विषयों का क्या बिगड़ा ?

नेत्र और श्रोत्र के विषय में भोक्ता का बिगड़—मान लो भैया ! सुन्दर सिनेमा, सुन्दर रूप या सुन्दर चित्र है और टकटकी लगाकर हमने अपनी आखें बिगड़ लीं, पर उस वस्तु में भी कुछ बिगड़ हुआ क्या ? रूप के भोगने में वहाँ तो कुछ बिगड़ नहीं । बिगड़ गया यह भोगने वाला खुद । आजकल रेडियो चल गए हैं, जितनी बढ़िया तर्ज बड़ा खर्च करके भी सुन पाते वैसी तर्ज रेडियो का कान ऐंठते ही सुन लो । हो गयी सुविधा । रात भर का रेडियो स्टेशन का प्रोग्राम है मानो । सुनने वाला रात्रिभर संगीत सुनता रहेगा, अब वह सुनने वाला ही उससे बिगड़ जायेगा । रेडियो न बिगड़ जायेगा । सुनने वाले की नींद बिगड़ी, स्वास्थ्य बिगड़ा, समय बिगड़ा । इस तरह यह जीव ही बिगड़ जायेगा, रेडियो में कुछ खराबी न होगी ।

नाक, जीभ, त्वचा के विषय में भी भोक्ता का बिगड़—इसी तरह नासिका इन्द्रिय के विषय की बात है, इसी तरह रसना इन्द्रिय की बात है । आप कहेंगे कि जब भोजन खाते हैं तो भोजन को, लड्डुओं को खाकर उनका बिगड़ कर दिया । अरे उनका क्या बिगड़ा ? वे तो स्कंध हैं । यों गोल-मटोल न रहे तो मुँह में चूर-चूर हो गए और लार से लेकर पेट में पहुंच गया । अन्य रूप परिणम गया, कुछ बन गया । उस पुद्गल का क्या बिगड़ा ? क्या उस पुद्गल का सत्त्व नष्ट हो गया ? क्या उस पुद्गल के कर्मबंध हो गया ? क्या उसमें कोई क्लेश आ गया ? कुछ भी तो आपत्ति उसमें नहीं आई । इसी तरह पंचेन्द्रिय के विषयों के भोगने में विषय हैरान नहीं होते, विषयों का बिगड़ नहीं होता । विषय नहीं भोगे जाते । खुद हैरान हुए, खुद का बिगड़ हुआ, फिर इस स्थिति में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना में इसके समस्त प्रदेश खिन्न हो गए । अब यह जो क्रिया करता है उसी में ही उसे खेद होता है । जिसका उपादान खेद करने का है सो उसे कहीं बैठाल दें खेद ही उत्पन्न करेगा । जिसका उपादान क्रोध करने का है वह कुछ भी बाहर में संग्रह विग्रह कर ले, पग-पग पर क्रोध ही उत्पन्न करेगा । जिसका उपादान मानयुक्त है उसे कहीं भी बैठाल दे वह मान की ही बात करेगा ।

उपादान के अनुकूल उद्गम—एक सेठ जी के तीन लड़के थे, वे तीनों ही लड़के तोतले थे, और एक किसी अन्य सेठ के तीन लड़कियां विवाह के योग्य थीं । तो नाई भेजा कि देख आवो सेठ के लड़कों को । पहिले नाई ही लड़का पसंद करने जाया करता था । खवास जी ! वह कह दें कि लड़का अच्छा है तो सभी लोग उसकी बात मान कर विवाह कर देते थे । अब खवास जी पर विश्वास न रहा तो बाबा लोग देखने जाने लगे । जब लड़के के बाबा पर विश्वास नहीं रहा तो पिता और चाचा जाने लगे । जब पिता और चाचा पर विश्वास नहीं रहो तो खुद जाने लगे पसंद करने के लिए । तो पुराने जमाने की बात है—नाई गया देखने तो सेठ जी ने तीनों लड़कों को खूब सजा करके तीनों लड़कों को बैठाल दिया और कह दिया कि बोलना मत । अच्छी बात है । उन्हें खूब वस्त्र आभूषणों से सजाकर बैठाल दिया । लाइलोन का कपड़ा बहुत बढ़िया नहीं होता है और हमारी समझ के अनुसार जो छोटे चित्त के लोग होंगे वे ही लाइलोन को पसंद करेंगे । हमारी बात बुरी लगे तो बड़े आदमी छोड़ दें । हम तो जानते हैं कि लाइलोन छोटे चित्त वाले ही लोग पसंद

करते हैं। सो अच्छी तरह के रेशमी कपड़े पहिना करके अच्छी गोल टोपी लगाकर तीनों को जड़ी पर बैठा दिया।

अब आये खवास जी। देखा एक से एक बड़े अच्छे लड़के कितने सुन्दर हैं, उनकी सुरत पर गुण ही टपक रहा है, धन्य है। आखिर बड़े सेठ के ही तो लड़के हैं। ऐसी प्रशंसा की बातें सुनकर एक लड़का बोला—ऊँ अभी टंडन मंडन तो लगा ही नहीं है, नहीं तो बड़े सुन्दर लगते। दूसरा लड़का बोला—अबे डड्हा ने का कई ती, समझाया तो था कि चुप रहना, बोलना नहीं। तीसरा लड़का बोला मुँह में अंगुली लगाकर कि टुप-टुप। नाई ने देख लिया ये सभी लड़के तोतले हैं। तो जिसका उपादान खोटा है वह कैसे अपनी खोटी वृत्ति छोड़ देगा? इस कारण खोट अपन सबमें है। किसी में कम किसी में ज्यादा, तो किसी समय हम दुःखी हों, किसी समय हमें किसी पर कोई कषाय लगे तो उस समय अपना ऐसा विचार करना चाहिए कि बाहरी बातों के संग्रह विग्रह से यह दुःख मेरा मूल से न जायेगा। बाहरी प्रयत्न करने से हमारा क्लेश मूल से नष्ट न होगा। हमें ज्ञानबल बढ़ाकर अपने ही प्रदेश में अपने से ही कुछ बदलना है, करना है, खोट हटाना है तो बात बनेगी।

आत्मदृष्टि वहिकणिका और विपत्ति ईंधन—सो देख लो भैया कि यह ज्ञानानन्दनिधान भगवान आत्मा कैसे-कैसे इतनी बड़ी विपत्ति में आ गया? आ गया, कुछ परवाह नहीं। जैसे ईंधन का बड़ा ढेर है और उसमें अग्नि की कणिका धर दें तो सारा ढेर भस्म हो जायेगा। परवाह नहीं है। शहरों का जब कूड़ा बहुत जम जाता है तो छोटी-छोटी ठेलियों से कहां तक हटाएँ, ऐसा सोचकर साफ करने वाले लोग आग लगा देते हैं। दो चार घंटे में ही वह साफ हो जायेगा। इतनी बड़ी विपत्तियां आ गयीं, आने दो, कुछ परवाह नहीं। जिस ही काल में यह मेरा उपयोग विज्ञानघन आत्मस्वरूप में मग्न होगा कि सारी विपत्तियां भस्म हो जायेंगी। यह तो बात रही सुभवितव्यता की।

व्यापक का अभाव होने से व्याप्य का अभाव—अब स्वरूप दृष्टि पर जो कि प्रकरण की बात है अब आयें। यह चेतना यद्यपि एक अखण्ड-अखण्ड अद्वैतरूप है फिर भी यह दर्शनज्ञानात्मक है, सामान्यविशेषात्मक है। यह चेतना यदि सामान्य विशेषरूप का त्याग कर दे तो चेतना तो अस्तित्व ही खो देगी। जब चेतना का अस्तित्व मिट गया तो चेतना में भी जड़ता आ गयी। सारे चेतनों में व्यापक है चेतन। तत्त्व का अभाव होने से साध्य चेतन कहां रह सकेगा इसका भी विनाश होगा। इस कारण यह निश्चित है कि यह चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप है। यह कथा किसकी हो रही है? आखें खोलकर बाहर देखकर नहीं बताया जा सकता है। इन्द्रियों को संयंत करो, कुछ अन्तरङ्ग में देखें तो यह कथा खुद की ही कही जा रही है।

चिन्मात्र प्रभु की भक्ति—इस चेतन मुक्त आत्मा का एक चिन्मात्र भाव ही है, अन्य कुछ नहीं है याने इस मुझ आत्मा का केवल एक चैतन्यस्वरूप ही है, इसके अतिरिक्त यहाँ ही उत्पन्न होने वाला औपाधिक अन्तर का भाव भी मेरा नहीं है, फिर प्रकट धन वैभव सारे परिवार आदि की तो बात ही क्या है? लोग कभी-कभी खुश हो जाते हैं मनचाहा धन मिल जाने पर, मनचाहा कार्य सिद्ध हो जाने पर। अब्ल तो हां मनचाहा कुछ नहीं होता क्योंकि एक काम मनचाहा हो गया तो दूसरा मनचाहा और चित्त में खड़ा हो जाता

है और हो भी गया मनचाहा तो इस एक मनचाही बात के हो जाने से कौन-सा वैभव पा लिया ? वह तो बाहर की ही चीज है । जिसने अपने सनातन अहेतुक इस चिन्मात्र भाव को ही अपनाया है, मैं तो मात्र इतना ही है, अपना ले यह अंतरङ्ग से जिसकी पहचान है कि बाह्य विषय परिग्रह सब नीरस लग जावें, ऐसी अपने अन्तर की बात अपना ले तो वह है तीर्थकर का परमभक्त ।

परभाव की हेयता—भैया ! जिनेन्द्रदेव ने बताया है कि मोह त्यागो और अपने स्वरूप में समा जावो, इसका अभ्यास जो करता है वह ही है तीर्थकर देव का परमभक्त । मेरे एक चैतन्यमात्र भाव के अतिरिक्त अन्य जो कुछ भाव हैं वे परपदार्थ के हैं, वे मेरे कुछ नहीं हैं । घर में ही लड़का यदि एक कुपूत हो जाये, बेढ़ंगा हो तो माता कहती है कि मेरा लड़का नहीं है । तो यह लड़का बाप का है । बाप बोले कि यह लड़का मेरा नहीं है, यह तो इसका है । तो कहो दोनों में लड़ाई हो जाये । उस लड़के को न मां अपना मानना चाहती है और न बाप अपना मानना चाहता है । इसी प्रकार ये रागादिक भाव मेरे नहीं हैं, ये तो जिनके निमित्त से हुए हैं उनके भाव हैं । मेरे लिए ग्राह्य तो एक चिन्मात्र भाव है, बाकी नैमित्तिक परभाव सर्व ओर से हेय हैं । एक इस चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व का ग्रहण करो ।

सिद्धि का मूल शुद्धदृष्टि—भैया ! दृष्टि यदि शुद्ध है तो नियम से सर्वसिद्धि होगी । दृष्टि यदि निर्मल नहीं है, आशय यदि खोटा है तो बाहरी दिखावट से, बनावट से, सजावट से कहीं अंतरङ्ग शांति न हो जायेगी । कोई बुद्धिमान् लोग ऐसे होते हैं कि है तो दुःखी मगर दिखाना पड़ता है दुनिया को कि हम सुखी हैं । कोई व्यापार आदि में टोटा पड़ जाये तो उससे अन्तर में तो वह दुःखी मगर ग्राहकों को, और लोगों को यदि यह जता दिया जाये कि हम बड़े दुःखी हैं तो उसके तो व्यापार पर भी धक्का लग जायेगा । सो वह कहता है कि मुझे कुछ परवाह नहीं, हो गया होने दो । ऊपरी बनावट से अन्तरङ्ग में कुछ वहाँ बात न बनेगी । ज्ञानबल से अपने भावों को पवित्र बनाएँ तो सर्व कल्याण है ।

गाथा ३००

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सब्वे पराइये भावे ।

मञ्ज्ञमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्ययं सुद्धं ॥१००॥

स्वकीय ज्ञान में परात्मबुद्धि का अभाव—अपने आत्मा को शुद्ध जानते हुए समस्त अन्य भावों को परकीय ज्ञान करके ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो परकीय भावों को मेरा है—ऐसे वचन कहे । जिसको अपने और पराये का पता है वह तो पागल की नाई कभी अपने को अपना कह दे, कभी पराये को अपना कह दे, किन्तु जिसको अपने भावों का निश्चय है और पराये भावों का निर्णय है वह पुरुष परकीय भाव को अपना नहीं कह सकता । हमने तो आप लोगों को एक दिन भी भूल की बात नहीं देखी कि कोई दूसरे के लड़के को अपना बोल देता हो । आप हमेशा अपने लड़के को ही खूब अपना कहते और गले लगाते और उसके पीछे जिंदगी भर मरते हैं । हमने तो कोई भूल नहीं देखी । तो जैसे लोक व्यवहार में आप सयाने चतुर है, वहाँ भूल नहीं करते हैं, वहाँ परमार्थ से सारी भूल पर जैसे व्यवहार में भूल नहीं करते ऐसे परमार्थ

की बात जानकर भी तो वे भूल रहना चाहिएँ यहाँ दूसरे के लड़के को पराया बनाना और अपने घर के लड़के को अपना बताना विवेक नहीं है, यही भूल है। तो क्या पर के लड़के को अपना कहना और अपने लड़के पराया कहना यह विवेक है? यह भी भूल है। सबको पदार्थ समझना और उनके स्वरूप को अपने आत्मा के स्वरूप की नाई समझना। सो विवेक है।

निरापद आत्मतत्त्व—निज आत्मा कैसा है? शुद्ध है अर्थात् केवल है, खालिस है, अकेला है, अपने स्वरूपमात्र है। इसमें न शरीर है, न द्रव्यकर्म है, न रागादिक भाव है, कोई पर आपत्ति नहीं है, ऐसा यह शुद्ध आत्मा है जैसा ज्ञानी पुरुष जान रहा है। वह विधि तो बतावो जिस विधि से हम भी जानने की कोशिश करे। उसकी विधि पूछते हो तो उस शुद्ध आत्मा के जानने की विधि यह है कि सर्वपदार्थों को भिन्न और अहित जानकर अपने आपमें परम समतारस से परिणम होओ, यह विधि है आत्मा को जानने की। जानना हो तो यह विधि करके देख लो। और यह विधि करते न बने तो कम से कम इतनी सज्जनता तो रखिए कि और लोग ऐसी विधि कर लेते हैं, ऐसी श्रद्धा तो रखिये। अपनी ही तरह समस्त जीवों को अज्ञानी तो न समझिये।

व्यर्थ का अहंकार—भैया! सबसे बड़ा एक दोष जीव में यह आ गया है कि अपने मुकाबले किसी दूसरे को कुछ मानता ही नहीं है। वह जानता है कि दुनिया में पूरी डेढ़ अकल है, उसमें से एक अकल तो मुझे मिली है और आधी अकल सब जीवों में बांटी गयी है। यों यह अपने को बड़ा

समझता है कि मैं पूरी बुद्धिमानी के साथ चिंतन कर रहा हूँ। पर काहे की बुद्धिमानी? केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहिले तक छद्मस्थ अवस्था है, उनके अज्ञान का उदय कहा गया है औपाधिक भाव की अपेक्षा और उनका असत्य वचन भी बताया गया है १२वें गुणस्थान तक। तो सर्वज्ञता पाये बिना हम अपने को सब जैसा एकसा ही समझें। हमारी कोई ऐसी स्थिति नहीं है जो अहंकार के लायक हो।

सर्वनैपुण्य के अभाव का एक उदाहरण—एक १८,१९ वर्ष का लड़का बी. ए. पास करके उसकी खुशी में एक समुद्र में टहलने के लिए जाने लगा। तो समुद्र में नाव खेने वाले से कहता है कि ऐ मांझी, तू मुझे इस समुद्र की सेर करा। मांझी बोला कि १) किराया होगा। हाँ १) ले, और क्या चाहता है? अब नाव जब चलती है तो बैठे-बैठे चुपचाप नहीं रहा जाता, गप्पे की जाती है। एक नाव और एक नाई की हजामत, इनमें चुपचाप नहीं बैठा जाता है। जिसकी हजामत बन रही वह चाहे बैठा रहे चुप क्योंकि छुरा लगने का डर है, पर नाई तो गप्प करता ही रहेगा। वहाँ नाव में यह बी. ए पास बालक कहता है कि ऐ मांझी, तू कुछ पढ़ा लिखा है? बोला—नहीं मालिक। तो तू ए. बी. सी. डी भी नहीं जानता? बोला—नहीं मालिक। तो तू अ आ इ ई भी नहीं जानता? यह भी नहीं जानता। तो तेरा बाप पढ़ा लिखा है? बाप भी नहीं पढ़े लिखे हैं। हमारी परम्परा से यह नाव का व्यापार चल रहा है। वह लड़का बोला—बेवकूफ, नालायक, और भी कुछ गालियां देकर जिनको मैं नहीं जानता, कहता है कि ऐसे ही इन बिना पढ़े लिखे लोगों ने भारत को बरबाद कर दिया। अब सुनता गया बेचारा, क्योंकि अपराधी तो था ही, पढ़ा लिखा न था। जब नाव एक मील दूर पहुंच गई तो वहाँ ऐसी भैंवर उठी कि वह नाव मँडराने लगी। सो वह बी. ए. पास बालक डर कर

कहता है कि अच्छी तरह नाव खेना ताकि नाव डूब न जाये। तो वह बोला कि यह तो डूब ही जायेगी, ऐसी कठिन स्थिति है। और हम पर कृपा करना हम नाव छोड़कर तैरकर निकल जायेंगे। अब वह डरा। तो मांझी बोलता है कि बाबू साहब तुमने पानी में तैरना सीखा कि नहीं? बोला कि हमने नहीं सीखा। तो जितनी गालियां बाबू साहब ने दी थीं उतनी ही गालियां देकर वह मांझी कहता है कि ऐसे लोगों ने ही भारत को बरबाद कर दिया है। मात्र ए. बी. सी. डी. पढ़ लिया, कला कुछ सीखी नहीं, इस कलाविहीन पुरुषों ने ही तो भारत को बरबाद कर दिया।

अज्ञानी और ज्ञानी की लखन—तो भैया! किसको कहा जाये कि यह अपने ज्ञान में पूरा है, कोई किसी प्रकार के ज्ञान में पूरा है, कोई किसी प्रकार के ज्ञान में पूरा है। अब हमसे आप कहने लगें कि जरा इतिहास पर भी व्याख्यान दो, तो क्या दे देंगे? भले ही पौराणिक बातों को कहकर थोड़ा, बोल दे, सो भी अधिक नहीं। तो काई मनुष्य किसी भी वैभव से पूर्ण सम्पन्न नहीं है, फिर ऐसा सोचना बिना सोंग वाले पशु का ही काम है कि दुनिया को डेढ़ अकल है सो एक मिली हम को और आधी सबको बँट गयी। ज्ञानी पुरुष दूसरे को देखता है तो सबको एक स्वरूप में देखता है और जब परिणमन की मुख्यता से देखते हैं और व्यक्ति की अपेक्षा देखते हैं तो सबको अपने से न्यारे देखते हैं।

अज्ञानी और ज्ञानी के पक्ष और निष्पक्षता—लोग अपने पुत्रों का पक्ष लिया करते हैं। उसने किसी को पीटा भी हो, किसी पर ऊधम भी किया हो तो जब झगड़ा आयेगा तब दूसरे बालक का ऐब देखेंगे, अपने बालक का ऐब न देखेंगे। कदाचित दूसरे लड़के वाले यह शिकायत करें कि तुम्हारे लड़के ने हमारे बच्चे को पीट क्यों? दिया तो क्या उत्तर मिलेगा कि हमारे लड़के के पास तुम्हारा लड़का बैठता क्यों है? लो, यह कसूर मिला। किन्तु जो ज्ञानी गृहस्थजन है वे अपने बच्चे के अन्याय का पोषण नहीं किया करते हैं। अपने पुत्र को भी, यदि अन्यायी है तो दण्डित करते हैं। ऐसे ही उपयोग में दोष है तो अपने उपयोग को दंडित करते हैं ज्ञानीपुरुष।

प्रज्ञा का पुरुषार्थ—जो अपने आत्मा को समतापरिणाम से परिणत होकर अभेदरत्नत्रयरूप भेदज्ञान से परिणत होकर शुद्ध आत्मा की भावना में निरत होकर अपने आपको शुद्ध केवल ज्ञायकस्वरूपमात्र जानता है और इन रागद्वेषादिक भावों को ये पर के उदय से उत्पन्न हो जाते हैं—यह निश्चय करता है, इस कारण मुझे यह पूर्ण निर्णय है कि मेरा तो एक नियत चैतन्यभाव ही है, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है। फिर वह कैसे पर भावों को अपना कहेगा? जो प्राणी ऐसी प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी बनता है, जो प्रज्ञा विभाव में और आत्मस्वरूप में नियत स्वलक्षण का विभाग पटकने वाला है उस प्रज्ञा के कारण जो ज्ञानी हुआ है वह तो एक चैतन्यमात्र भाव को आत्मीय जानता है। वह तो जो ज्ञान हो रहा है उस वृत्ति को भी नहीं पकड़ता है, जानता भर है कि यह भी नष्ट होने वाली चीज है, किन्तु जाननरूप परिणमन का जो सात है ऐसा जो ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा जो ज्ञानस्वभाव है उसको जानता है कि मैं हूँ। मैं तो ज्ञान के द्वारा एक चैतन्यमात्र अपने आपको जानता हूँ।

चिन्मात्र भाव की धारणा—जो अन्य शेष भावों को परकीय जानता है ऐसा जानता हुआ यह ज्ञानी

पुरुष परभाव का यह मेरा हैं—ऐसा कैसे बोल सकता है क्योंकि पर को और आत्मा को निश्चय से एवं स्वामी सम्बन्ध नहीं होता है, इस लिए सर्व प्रकार से चित्स्वरूप भाव ही ग्रहण करना चाहिए ओर बाकी शेष समस्त भाव दूर करने चाहिए। जो चिड़िया का

सबसे छोटा बच्चा होता है उसे चेनुवा बोलते हैं। अभी यह चेनुवा है, इसे छेड़ो नहीं। जो चल नहीं सकता, हिल नहीं सकता, एक मांस का लेथड़ जैसा पड़ा हुआ है, जिसके श्वास का भी पता नहीं पड़ता कि चलता है या नहीं। जैसे तुरन्त अंडा फूटा उसी समय जैसा लेथड़ हुआ उसे लोग चेनुवा कहते हैं। लोगों के कहने में बहुत पूर्वकाल में मर्म क्या था कि अभी इसके शरीर ही नहीं बना है। यद्यपि कुछ शरीर है मगर वह पूर्ण नहीं है इसलिए शरीर की दृष्टि नहीं है। जो साधारण चीज होती है उसको लोग मना करके कहते हैं। जैसे किसी लड़की को पेट कुछ पतला हो तो उसे क्या कहते हैं कि इसके पेट ही नहीं है। तो तुच्छ जैसी चीज रह जाये तो उसे लोग कुछ नहीं बोला करते हैं। तो उस चेनुवा को मनुष्य यह बोला करते कि उसके शरीर ही नहीं है। तो क्या है? चिन्मात्र। मात्र चैतन्य है, चित् के सिवाय यह और कुछ नहीं है। भाव तो किसी जमाने में यह था।

स्वातन्त्र्यसिद्धान्त की सेवा—अब इस चिन्मात्र तत्त्व को भीतर की गहराई के साथ देखते चले जाएँ तो कैसा स्थिर ध्रुव, कुछ जिसके बारे में नहीं कहा जा सकता, ऐसा एक ज्योतिमात्र तत्त्व मिलेगा। उस चिन्मात्र प्रभु की उपासना का ऐसा बड़ा चमत्कार है कि जो पद तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट है वह पद चिन्मात्र की आराधना करने वाले को मिलता है। इस कारण हे गम्भीर दिल वालो, उदार चित्त वालो, अर्थात् जो जरा-जरासी बातों में विहळ नहीं होते, आकुलित नहीं होते दूसरों के बारे में गलत नहीं सोचते ऐसे गम्भीर और उदार चित्त वाले हे आत्मावो! तुम मोक्ष के अर्थी तो हो ही, संसार का कुछ भी वैभव आप नहीं चाहते हो और न किसी वैभव को देखकर अपना बड़प्पन समझते हो। तो तुम्हें क्या चाहिए कि वस्तु की स्वतंत्रता वाले सिद्धान्त की सेवा करो।

जैनसिद्धान्त की प्रमुख विशेषता—भैया! जैनदर्शन में अनेक विशेषताएँ हैं, जिनमें अक्सर लोग यदि पूछे कि जैन धर्म के महत्त्व की बात क्या है? तो लोग बताते हैं कि इसमें त्याग का महत्त्व है, इसमें अहिंसा का महत्त्व है, इसमें अपरिग्रह का महत्त्व है। इसमें आचरणों को ऋम-ऋम से पालन करने की पद्धति बतायी है। पहिले इतना त्यागो, फिर इस तरह बढ़ो, इस तरह से अनेक बड़ी बातें हैं। हैं वे भी बड़ी बातें, मगर सबसे बड़ी बात यह है कि वस्तु का यथार्थ स्वरूप इस दर्शन में लिखा है, जिसके कारण मोह टूट जाता है, यह खास विशेषता है जैन सिद्धान्त की और तो सब ठीक ही है।

मुख्यलाभ के साथ गौणलाभ की प्राकृतिकता—बढ़िया खूब लम्बी गेहूं की बाल पैदा हों तो भूसा तो खूब मिलेगा ही, यह भी काम की चीज है। किन्तु इस भूसा से ही तो संतुष्ट तो किसान न हो जायेगा किन्तु इस खेत में जो अनाज पैदा होगा उसका महत्त्व है। एक बीज में चार पांच अंकुश निकलते हैं और एक-एक अंकुश की बाल में ४०-४० के करीब दाने होते हैं। यों कोई अनाज आदि उत्पन्न हो तो वह है खेती की विशेषता। मूल चीज में विशेषता है तो उसमें और चीजों की विशेषता होगी ही। जैनसिद्धान्त के कुल में

स्वयं ही यह बात देखी होगी कि न कोई जीव की हत्या करे, न कोई मांस खाते, न कोई मंदिरा पीते और अब तो समय निकृष्ट आया ना, इसलिये बलपूर्वक यह कहने को त्यागियों की जबान गृहस्थ समाज ने रोक दी है कि मत बोलो कि इस कुल में रात्रि को नहीं खाया जाता है। जहाँ उत्तम आचरणों की प्रथा है, पापुलेशन देख लो सब जगह दृष्टि पसार कर, उन्हीं विशेषताओं की लोग तारीफ करते हैं, मगर जैनसिद्धान्त की सर्वोपरि एक विशेषता को नजर लाएं, यहाँ वह प्रत्येक वस्तु को अपने ही स्वरूप में तन्मय बताने की उपदेश है जिसके अवगम से मोह हट जायेगा।

वस्तुविज्ञान से सावधानी—भैया ! यदि वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है तो तुम कितना ही इस मोह को रोको कि अरे मोह तू न खत्म हो, नहीं तो मोह का सारा मजा खत्म हो जायेगा तो भी मोह रह नहीं सकता क्योंकि वस्तु का स्वरूप आपकी दृष्टि में आया कि अरे मोह में आनन्द है कहाँ? वस्तुस्वातंत्र्य के अनुभव से जो स्वाधीन सहज आनन्द प्रकट होता है उसके अनुभव के बाद आप यह चाहेंगे कि हे सहज आनन्द ! तुम ही सदाकाल रहो। मैं एक क्षण को भी अपने स्वरूप की दृष्टि से चिंगकर किसी पर की ओर उन्मुख नहीं होना चाहता। मिलेगा क्या पर की उन्मुखता में अच्छा तुम किस पर की ओर उन्मुख होना चाहते हो, धन वैभव सोना चांदी ये जड़ है, अचेतन है, ये कुछ भी आपके धैर्य के लिए चेष्टा नहीं करते। तो नाक, धूक, मल आदि से भरे हुए दूसरे शरीर से भी क्या मिलेगा ? अपना ही सब खोकर जायेंगे मित्रजन, अनुरागीजन जो बड़ा प्रेम दिखाते हैं, यह प्रेम प्रदर्शन का बड़ा धोखा है कि हम आप ज्ञानानन्दनिधान ब्रह्मस्वरूप से चिंगकर अंधे और पागल हो जायेंगे।

निर्विघ्नस्वगृह से न हटने का सन्देश—भैया ! अपने इस सुराक्षित आनन्दमय घर से निकलकर जगह-जगह ठोकर खिलाने वाले पर घर की ओर उन्मुख क्यों होते हो? जैसे सावन की तेज घटा में जब कि तेज वर्षा हो रही है, मूसलाधार वर्षा चल रही है और यदि हम बड़ी अच्छी कोठरी में बैठे हों जहाँ एक भी बूँद नहीं चू रही है तो ऐसी कोठरी से निकलकर मूसलाधार वर्षा में जाने का चाहेंगे क्या? इसी तरह इस सम्यक्त्व के काल में, जब कि अन्यत्र बाहर सब जगह क्लेश और चिंताओं का वातावरण छाया है मूसलाधार विपत्तियां नहीं हैं, बड़ा स्वाधीन सहजआनन्द प्रकट हो रहा है ऐसी स्थिति आनन्दमय निज में बैठकर एक बार आनन्द से लुप्त होकर क्या तू इस मूसलाधार वर्षा में बाहर निकलना चाहता है ? ऐसा जो करेगा उसे बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता।

अमोघ प्रकाश—इस जगत् में सर्वत्र अज्ञान और मोह का अंधेरा छाया है। जिस अंधेरे में बसा हुआ प्राणी अपने स्वरूप को शांति के मार्ग को तो प्राप्त करता ही नहीं, उल्टा क्लेश का उपाय बढ़ाया करता है। यदि जिनेन्द्र देव का यह सद्वचन न होता तो जीव कैसे दुःख से छूटकर सुख में पहुंच पाते? उपासना में चाहिए रागद्वेषरहित सर्वज्ञदेव और कर्तव्य में चाहिए रागद्वेष से परे होना—इन दोनों का उपाय बने कैसे ? इसका मात्र एक उपाय जो अत्यन्त सुलभ है, बताया तीर्थकर परमदेव ने कि हे आत्मन् ! तुम्हारा जो सहज ज्ञातृत्वस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है उसको जान लो तो तुम्हें प्रभु की भी श्रद्धा बनेगी और निर्दोषता का कर्तव्य भी बनेगा। भगवान ने स्पष्ट आगम में प्रकट किया है कि हे भव्य जीवों ! तुम लोगों के लिए प्रथम पदवी में

तुम्हारे स्वरूप के ज्ञान के लिए मेरा शरण है, तुम्हारे स्वरूप के स्मरण के लिए तुम्हें शरण है, पर तुम केवल मुझको ही शरण मानकर मेरे पास मत आवो । किन्तु अपना परमार्थ शरण जो तुम्हारे आत्मा में अंतस्तत्त्व बसा है उसकी शरण पहुंचो ।

जैन उपदेश की सत्य घोषणा—भगवान को यदि अभिमान होता, उन्हें सांसारिक महत्त्व की इच्छा होती तो यह उपदेश देते कि तेरे लिए कहीं कुछ शरण नहीं है। तू केवल मेरी शरण में रह और हाथ जोड़, सिर रगड़। प्रभु की ऐसी शुद्ध ज्ञानवृत्ति होती है कि अपने लिए कुछ भी चमत्कार नहीं चाहता। भैया ! ज्ञानीजन ही जब यों निरहंकार होकर रहते हैं और परजीवों से उपेक्षित रहते हैं, अपने स्वरूप की आराधना में सजग रहते हैं तो प्रभु भगवंत कैसे यह विकल्प करेगा कि तुम एक मेरी ही शरण में आवो।

प्रभुशरण—भैया ! गहो शरण प्रभु की और खूब गहो शरण, भव-भव के बांधे हुए पापों के भस्म करने के लिए बड़ी दृढ़ता से गहो प्रभु के चरण और आनन्द और खेद के मिले हुए भावों से निकले आंसुओं से अपने पाप से धोवो खूब, यह पहली पदवी में आवश्यक है, फिर जैसे कर्मभाव हल्के हों, विकल्प भाव कम हों मन से, अपने में विश्राम लेने की स्वयं इसे खबर हो जाती है कि अपने आप मुझे यह करना है जो अपना सहजस्वरूप है सो देखते रहो।

सत्संगति व शास्त्राभ्यास—भैया ! सत्संगति व शास्त्राभ्यास ये दो ऐसे प्रबल साधन हैं जीव के उद्धार के कि जिन साधनों में रहे, कभी तो अवश्य आत्मा की तृप्ति पायेगा। किन्तु यह मोही दोनों से दूर रहना चाहता है और इसके एवज में असत्संगति करके और गप्प चर्चा में रहकर अपने आप पर क्लेश भार बढ़ाता है। ज्ञानी जीव अपने आपमें प्रेरणा ला रहा है कि मैं एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं और मुझमें जो अन्य नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं वे मुझसे पृथक लक्षण वाले हैं। वे सब मैं नहीं हूं क्योंकि वे सबके सब परद्रव्य ही हैं। जो जीव परद्रव्यों को ग्रहण करता है वह अपराधी है, वह नियम से बंधता है, जो परद्रव्यों का ग्रहण नहीं करता वह अनपराधी है। अपने ही आत्मद्रव्य में बसा हुआ जो मुनि है वह कर्मों से नहीं बंधता, इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणपूर्वक तीन गाथाएं एक साथ कही जा रही हैं।

गाथा ३०१

भेयाई अवराहे कुब्बदि जो सोउ संकिदो भमदि।

मा वज्ज्ञेज्जं केणवि चोरोत्ति जणम्हि वियरंतो॥३०१॥

गाथा ३०२

जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्सको दु जणवए भमदि।

णवि तस्स बज्ज्ञदुं जे चिंता उपज्जइ कयावि॥३०२॥

गाथा ३०३

एवं हि सावरा हो बज्ज्ञामि अह तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्ज्ञामि॥३०३॥

अपराध में बन्धन—जो पुरुष चोरी आदिक अपराधों को करता है वह पुरुष शंकित होता हुआ यत्र तत्र भ्रमण करता है । मैं किसी के द्वारा गिरफ्तार न हो जाऊँ, ऐसा वह चोरी करने वाला पुरुष शंकित होकर वन-वन में भटकता है । देखो आज तक कोई डाकू या चोर कोई श्रीमंत बन सका क्या ? डाकुओं ने लाखों रुपये हाथ में लिए होंगे, पर उनके पास ज्यों की त्यों, बात है, कोई वृद्धि नहीं है और शंकित होकर जंगल में, गुफाओं में यत्र तत्र भ्रमण करते हैं । क्या हो गया है पर द्रव्यों का ग्रहण किया । इसी प्रकार यह जीव अपने आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य परमाणु मात्र जो पर में उपयोग फंसाता है, दृष्टि लगाता है, समय व्यर्थ खोता है, अपने आपका ज्ञानबल घटाता है, कर्मों से बंध को प्राप्त होता है वह बंध जाता है ।

पर का अङ्गीकरणरूप मूल अपराध—भैया ! प्रभु है साह, और जब तक वह प्रभुता नहीं मिली, सम्यक्त्व नहीं जगा तब तक है जीव परमार्थ से चोर । आत्मा के हाथ नहीं; हाथों से कोई चीज उठाये । उसके पास तो ज्ञान है । ज्ञान से दूसरे की चीज को अपना मान ले यह उठाना हुआ पर का, इस वृत्ति में जो रहता है वह कर्मों से बँधता है और जन्म मरण की परम्परा बढ़ाता है । आज का समय माना जाये कि गृहस्थजनों के लिए संकट का समय है, कितना बड़ा संकट का आज समय है कि रुपये के सेर भर के गेहूं मिलें, कर्माईं की कोई ठीक व्यवस्था नहीं, सरकार के कानून बदलते रहते हैं । ऐसे जमाने में भी, स्थिति में उदय के अनुसार तो हो ही रहा है किन्तु इस परिषह का विजय करते हुए किसी क्षण यदि अपने आत्मा के सहजस्वरूप की दृष्टि होती है तो उससे कुछ शांति अवश्य प्राप्त होती ही है ।

विपदा में धर्मप्रसेवा के कर्तव्य का एक उदाहरण—एक धर्मात्मा पुरुष था सो रोज पूजा करे, और बड़ी भक्ति से अपना धर्म पालन करे । अब बहुत वर्षों के बाद आफतों पर आफतें आ रही है । धन घट गया, परिवार घट गया, अनेक आपत्तियां छायी हैं, ऐसी स्थिति में उस धर्मात्मा पुरुष को क्या करना चाहिए? धर्म में तो असफल हो गया ना, तो उसे छोड़ देना चाहिए और क्या करना चाहिए? धर्म को छोड़कर चोरी, छल, दगाबाजी इन ही बातों में लग जाना चाहिए । यहाँ होगा शायद सुख पर ऐसा ठीक नहीं है । जैसे कोई राजा करोड़ों रुपये मर्हीने का खर्च करता है । इसलिए कि मुझ पर आक्रमण कोई न कर सके, मेरा राज्य न कोई लूट सके । वर्षों तक खर्चा उठा लेता है, पर कदाचित् मान लो उस राजा पर कोई आक्रमण कर दे तो उस राजा को क्या करना चाहिए? क्या युद्ध करना चाहिए कि सेनापति को बुलाए और कहे कि ऐ सेनापति ! आज से हमारा सेना से सम्बन्ध टूटा, हम कुछ नहीं जानते ? क्या ऐसा कह देना चाहिए यदि यह ऐसा कह देता है कि अब यह सब व्यर्थ है, सब झगड़े हटावो तो उसे कौन बुद्धिमान् कहेगा? कुछ भी बुद्धिमानी नहीं है । जहाँ अरबों रुपया खर्च कर दिया वहाँ लाख रुपये खर्च करके सेना में वह उत्साह बढ़ाये और सेना को लड़ने के लिए भेज दे तो विजय हो जायेगी और विजय हो जायेगी तो वर्षों का व्यय सब सफल हो जायेगा

।

विपदा में धर्मप्रसेवा का कर्तव्य—इसी तरह धर्म करते हुए यदि दुःख आता है, आपत्ति आती है तो उस काल जरा और दृढ़ हो जाइए । जरासी हिम्मत करने की बात है, फिर सब योग्य वातावरण ओर शांति का साधन मिलेगा । दुःख कैसे आते हैं उन्हें, जो धर्म पर चलते हैं ? जो पहिले से ही विषय कषायों में आसक्त बने हुए हैं, उन्हें दिखने में तो कोई कष्ट नहीं है । क्या कष्ट है ? जो नियम संयम से चलते हैं उसे आते हैं कष्ट और जो नियम से नहीं चलते उन्हें क्या कष्ट आयेंगे ? सो भैया ! एक तो मोह में कष्ट पहिले ही लगे हुए है । उनकी जानकारी ही नहीं है ।

संतोष का उपाय इच्छानिरोध—जो रात्रि को पानी नहीं पीते, जो २४ घंटे में एक बार ही पीते । अब गर्मी के दिनों में लोगों को यह दिखेगा कि कष्ट इसको है, संयमी को । अरे ऐसे लोगों को क्या कष्ट कम है कि सोते हुए भी चारपाई के सिरहाने पर सर के ऊपर पानी से भरी हुई सुराही भरी हुई है । सो आंखें मिची है, झट सुराही का गला पकड़ा और अपने गिलास में भरा और पी गये । उनको क्या कष्ट नहीं है ? है कुछ कष्ट । दिन रात में पचासों बार पानी पीने वालों को इतनी गुस्सा आती है गर्मी के दिन में कि पेट में पानी तो भरा है लबालब, एक धूंट आ जाने की गुजाइश नहीं है फिर भी चाहते हैं कि खाना पानी और भी पेट में भर लें । और जो यह जान कर कि हमें पानी नहीं पीना है, सो खायेगा संभलकर जितने में प्यास न लगे और संतुष्टरूप से अपनी इच्छाओं को शांत कर वह तृप्त रहता है ।

पुरुषार्थी के परीषहों का सामना—एक शायर ने कहा है कि—‘गिरते हैं सहसवार ही मैदाने जंग में, वह तिक्कल क्या करेगा जो घुटनों के बल चले ।’ गिरते वे हैं जो ऊंचे घोड़े पर बैठकर चलते हैं, वे क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल पर चल रहे हैं लुढ़क रहे हैं, उनको क्या लगेगा ? कितना कठिन देह का बन्धन लगा है और कर्मों का बंधन लगा है । इस बंधन से मुक्त होने का उपाय क्या असंयम से हो सकेगा ? मान लो इस मनुष्यभव का सुख लूट लिया, स्वच्छन्द मन बनाकर, अब मरने के बाद पेड़ पौधे हो गए, कीड़ा मकौड़ा हो गया, निगोद हो गया । अब क्या करेगा यह जीव ? तो यह आत्मा अपने ही आत्मद्रव्य में सम्बृत रहे, संयत रहे और अपने में अपने को अकेला समझे, अकिंचन जाने, अपने ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में ग्रहण करे तो इसे संकटों से छूटने का मार्ग मिलेगा । ऐसी भावना भावो कि हे नाथ मुझमें वह बल आए कि मैं सिवाय निज चैतन्यस्वरूप के अन्य किसी भी पर में दृष्टि न लगाऊं, ऐसी भावना अपने आपमें कीजिए ।

अवसर न खोवो—भैया ! सफलता कब होगी ? देखा जायेगा जब होगी तब होगी, किन्तु कितनी ही उम्र गुजर गई हो, कितने ही अशुद्ध भावों में पग गये हों, फिर भी सुधरने का उपाय है तो यह प्रभु भक्ति और ज्ञानमार्ग । जब चेतो, जब करो तभी भला है । सो जैसे गरीब को कोई निधि मिल जाये तो खूब लूटने की कोशिश करता है । इसी तरह इस संसार के इस गरीब को यदि आज जैन सिद्धान्त के किरणों की निधि मिल रही है तो उसे खूब लूटो । अपने हृदय में खूब बसावो । विषयों की भावना न बसाकर वस्तु की स्वतंत्रता का स्वरूप बसावो । सब अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं, कोई किसी पर न दया करता है, न राग करता है, न अहसान करता है, सब अपने-अपने कषाय की चेष्टा करते हैं, इसलिए पर की ओर अन्तर से

आकर्षित मन होवो ।

मात्र दृष्टि पर सार व असार के लाभ की निर्भरता—जो पर की ओर मन झुकाता है वह ही तो राग से बँधता है और अव्यक्तरूप में कर्मों से बँधता है । जो परद्रव्य के ग्रहण का अपराध नहीं करता वह निःशंक होता हुआ अपने आत्मा की निधियों का संचय कर रहा है । छोटी चीज छोड़ोगे तो बड़ी चीज मिलेगी और छोटी चीज से ही स्मेह लगावेंगे तो बड़ी चीज से हाथ धोवेंगे । तुच्छ विषयों में रमेंगे तो शांति की साधिका भगवती प्रज्ञा के प्रसाद से वश्चित रहेंगे और उस तुच्छ से हटेंगे सो इस भगवती प्रज्ञा का प्रसाद पा लेंगे । तुच्छ और महान्—ये दोनों बातें पाना आपकी दृष्टिरूपी हाथ की बात है ।

सार की दृष्टि में ही बुद्धिमानी—भैया ! दृष्टि करने भर से रल मिलता है और विष मिलता है । अब जो मर्जी हो उसे ग्रहण कर लो । आपके आगे खली का टुकड़ा और रल का टुकड़ा दोनों ही रख दें और कहे कि जो मांगोगे सो मिलेगा । अगर आप खली का टुकड़ा मांग बैठते हैं तो तीसरा देखने वाला कोई आपको बुद्धिमान न कहेगा । केवल दृष्टि देने के आधार में शांति भी मिल सकती है और अशांति भी मिल सकती है । अब तुम जो चाहो, जैसी दृष्टि करो वही चीज मिल जायेगी । तो बुद्धिमानी यह है कि ज्ञानियों से नेह जोड़े, सज्जनों को मित्र मानें, उनमें पैठ बनाएँ । इस जगत की तुच्छ वस्तुओं से उपेक्षा करें, यह वृत्ति होगी तो शांति का मार्ग मिलेगा ।

अपराधी व निरपराधी की सशंकता व निःशंकता—यदि कोई किसी प्रकार अपराध नहीं करता तो वह निःशंक होकर अपने नगर में भ्रमण करता है । मैं बँध जाऊँगा, गिरफ्तार हो जाऊँगा, किसी प्रकार की कोई चिंता नहीं उत्पन्न होती । इसी तरह जो अपराधसहित पुरुष है उसको तो ‘मैं बँध जाऊँगा’ इस प्रकार की शंका रहती है और जो निरपराध पुरुष है वह निःशंक रहता है । मैं न बंधूगा—इस प्रकार का उसका शुद्ध प्रवर्तन रहता है । स्पष्ट बात यह है कि इस लोक में परायी चीज को ग्रहण कर लेना परम्मी स्मेह करना आदि यह हुआ एक अपराध । इस अपराध को कोई करना है तो उसको बंधने की शंका हो जाती है और जो अपराध नहीं करता उसको बंधने की शंका नहीं होती है । इसी तरह जो भी आत्मा अशुद्ध होता हुआ परद्रव्य को ग्रहण करनेरूप अपराध को करता है उसके बंधने की शंका हो जाती है और जो अपने को उपयोग में लेता हुआ केवल निजस्वरूप मात्र ग्रहण करता हुआ जो किसी भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता, अपराध नहीं करता तो सर्वप्रकार के परकीय भाव के त्यागपूर्वक उसका शुद्ध आत्मा ही ग्रहण में आता है ।

निरपराधता—एक चैतन्यमात्र यह आत्मा अपने ग्रहण में आए तो इसको ही निरपराध कहते हैं । यहाँ बात यह चल रही है कि यह जीव बंध में जो पड़ता है सो खुद ही अपने आपको रागद्वेषमोह भाव को उत्पन्न करके पड़ता है । कोई पुरुष राग नहीं करता, परवस्तुविषयक द्वेष नहीं करता, मोह नहीं करता, फिर भी बंध जाता हो सो कोई उदाहरण बतलावो । जो कोई बंधता है, दुःखी होता है सो अपनी इस करतूत के कारण होता है । सब जीव एक समान है तो इन जीवों में से एक दो तीन जीवों को ही क्यों छांट लिया गया कि ये मेरे सब कुछ है और बाकी समस्त जीवों की उनके स्वरूप की अवहेलना क्यों की जा रही है? यह ही इस जीव का महान् अपराध है जो अपने आपको भूलकर परवस्तुओं में राग, द्वेष, मोह करता है । जो इतना

महान् अपराध करता है अपने चैतन्य महाप्रभु का तिरस्कार करता है उसको कितना बंधन होना चाहिए, कितना उसे दंडित होना चाहिए, इसका अनुमान कर सकते हो ।

मान्यता की सावधानी—जो जीव रागादिक भावों को स्वीकार करता है कि यह मैं हूँ, वह तो बंधता है और जो अपने को यह स्वीकार करता है कि चेतन स्वभाव मात्र हूँ, वह संकटों से छूटता है । अपने आपके बारे में हम कैसे मानें कि हम बँध जायें, संकटों से घिर जायें और अपने आपके बारे में हम अपने आपको कैसा मानें कि संकटों से मुक्त हो जाएँ । ये दोनों ही बातें अपने आपके निर्णय पर निर्भर हैं । अब देख लीजिए कि कितना सुगम उपाय है संसार के संकटों से मुक्त होने का । न इसमें बड़ा कहलवाने की आवश्यकता होती है, न इसमें बड़े समारोहों की आवश्यकता होती है । यह तो केवल अपनी दृष्टि पर निर्भर है । मैं अपने को कैसा मानूँ, बस इस ही निर्णय पर सारे निश्चय है ।

निःसंकट स्थिति—जो पुरुष इन इन्द्रियों के द्वारा देखेगा, शरीररूप अपने को मानता है, मैं यह मनुष्य हूँ अथवा मैं परिवार वाला हूँ, धन वाला हूँ, इस प्रकार जो अपने आपको मानता है उसके नियम से अनेक कल्पनाएं जगेगी । और उन कल्पनाओं से संकट पाना होगा और जिसको अपने आपका ऐसा श्रद्धान है कि मैं एक चैतन्यमात्र पदार्थ हूँ, मूल में जिसे अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूप का अनुभव है वह पुरुष संकटों से नहीं घिरता, वह निरपराध होता है । उसे कर्मबंध नहीं होता, अथवा किसी प्रकार का संक्षेप नहीं होता । जिनके भोगों की आकांक्षा बनी हुई है उनको अनेक प्रकार की शंकाएँ होती हैं और जिनके कुछ निदान नहीं होता है, अपने आपके कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित केवल चैतन्यमात्र ही निरख रहा हो उसके लिए न संकट हैं, न बंधन है ।

इच्छा के अभाव में सर्वसिद्धि—भैया ! आत्मानुशासन में लिखा है कि ये कर्म किसके लिए कर्म है? जो जीने की आशा रखते हो, धन की आशा रखते हों उनके लिए ये कर्म कर्म है और जो न धन की आशा रखते हों, न जीवन की आशा रखते हों, तो कर्म तो ज्यादा से ज्यादा यहाँ तक ही तो पहुंच पाते हैं वे धन और जीवन में बाधा डाल दें, पर जो धन जीवन की आशा ही नहीं रखते हैं अब उनके लिए कर्म क्या करेंगे? अपने स्वरूप की परिचय की अपूर्व महिमा है । कहीं भी डाली-डाली पत्ते-पत्ते कहीं भी डालते जाये, कितना ही ज्ञान करते जायें । जब तक अपने मूल का अपने को परिचय न हो तब तक जीव को शांति नहीं मिल सकती । अपराध करता है ना जीव तो उन अपराधों से मुक्त होने के लिए प्रतिक्रमण प्रायश्चित आलोचना आदि अनेक तप करना होता है और जहाँ इस व्यवहार धर्म के प्रसाद से अशुद्ध भावना ही नहीं, परस्वरूप में अपना गिरना ही नहीं है वहाँ तो यह बिना ही श्रम, बिना ही अन्य योजना के सिद्ध ही होता है । उसको किसी भी प्रकार का बंधन नहीं है ।

इच्छा की हानि वृद्धि का परिणाम—कोई बच्चा है, जब तक छोटा है, शादी नहीं हुई है, स्वतंत्र है, सुखी है, निर्दोष है, पर जैसे ही उसका पाणिग्रहण होता है कल्पनाएँ नई-नई विचित्र-विचित्र दौड़ती हैं और व्यर्थ ही अपने को क्लेशमय बनाता है और बड़ा हुआ तो भले ही अभ्यास होने के कारण यह जीव अपने को सुखी मानता, चैन में मानता, बेचैनी का अनुभव न रखे पर स्वरूप से चिंगकर किन्हीं परजीवों में लगना यह

केवल आकुलता का ही कारण होता है। तो जो अपनी ओर रत होते हैं वे आकुलतावों से दूर रहते हैं। जो पर में निरत होते हैं उनके आकुलता ही आकुलता रहती है, ऐसा जानकर ज्ञानी संत अपने स्वरूप से नहीं चिगते और पररूप में निरत नहीं होते। अपराधी बनना अच्छा नहीं। अपराधी न बनोगे तो कोई संकट न होगा। अपराधी होगे तो संकट होगा। वह अपराध क्या है? उसका इन दो गाथावों में वर्णन है।

गाथा ३०४

संसिद्धिराधसिद्धं साधिमाराधियं च एयदुं।

अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥

गाथा ३०५

जो पुण णिरवराहो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।

आराहणाए णिच्चं वटटेइ अहं तु जाणंतो ॥३०५॥

क्लेश का हेतु स्वापराध—जो पुरुष दुःखी होते हैं वे अपने अपराध से दुःखी होते हैं। दूसरे के अपराध से कोई दूसरा दुःखी नहीं होता है उसने ही कोई अपराध किया है इसलिए दुःखी है। अपने आपके बारे में एक यह निर्णय रखो कि हम जब दुःखी होते हैं तो अपने ही अपराध से दुःखी होते हैं। हम दूसरों के अपराध से दुःखी नहीं होते हैं। हम दुःखी होते अपने अपराध से। हमारी दृष्टि में जब यह आ गया कि अमुक ने मेरा यों किया, मुझे यों परेशान किया, तब दुःख होना प्राकृतिक बात है। दूसरे के अपराध से अपने को दुःखी मानना यह सबसे विकट अपराध है। यह निर्णय रखो कि हम जब-जब भी दुःखी होते हैं अपने ही अपराध से दुःखी होते हैं, दूसरे के अपराध से मुझे दुःख हो जाये, यह तीन काल में सम्भव नहीं है।

स्व के अपराध से ही क्लेशों का उद्गमन—भैया! मोह में दृष्टि जहाँ पर की ओर की, विकल्प किया कि मैं तो बड़ा पवित्र हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्धिमान् हूँ, ज्ञानी हूँ और देखो मुझे दूसरे ने यों सताया और मुझे दुःखी कर दिया। अरे दूसरे के द्वारा सताये जाने से हम दुःखी कभी होते ही नहीं हैं। हम ही अपने प्रभु को सताते हैं और दुःखी होते रहते हैं। कोईसा भी दुःख ढूँढ़कर निकाल लो कि जिसमें आप यह पा सको कि मैं तो दूध का धोया जैसा स्वच्छ हूँ, कुछ अपराध ही नहीं करता हूँ, और दूसरे लोग मुझे व्यर्थ हैरान करते हैं। कोई एक घटना बता दो समस्त दुःखों की घटनावों में आपने अपना ही कोई अपराध किया इसलिए दुःखी हुए, और ज्यादा अपराध न देख सकें तो कम से कम इतना अपराध तो आपका है ही कि हम है अपने स्वरूपमात्र और असली स्वरूप को भूलकर हम अपने को नानारूप मान लेते हैं, बस लो, यही अपराध हुआ।

परभाव में निजमान्यता की महाभूल—कल्पना करो कि कोई पुरुष अपनी बड़ी सदाचार वृत्ति से रहता है, किसी का कोई बिगाड़ नहीं करता है, फिर भी लोग उसके प्रति अपमान करने की चेष्टा करते हो, उसे

लोक में गिराने की चेष्टा करते हों तो वहां तो यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य तो कुछ भी नहीं कर रहा है और इसे लोग यों ही हैरान करते हैं, तब तो हुई ना दूसरों के हैरान किए जाने से हैरानी। परं चित्त को समाधान में रखकर यह भी तो देखो कि दूसरों के हैरान किए जाने से हम हैरान नहीं होते, किन्तु अपने आपके बारे में कुछ सम्मान रूप निर्णय कर रखा है, और वैसा होता नहीं तो हम दूसरे का अपराध जानकर दुःखी हो रहे हैं, मेरे खिलाफ ऐसे लोग हैं और वे मुझ निरपराध को व्यर्थ ही सताया करते हैं। अरे हम खुद ही अपने सहजस्वरूप को भूलकर रागादिक भावों को अपना रहे हैं इसलिए दुःखी हैं।

निजश्रद्धा का प्रताप—भैया ! ज्ञानी पुरुष की ऐसी स्थिति होती है कि गृहस्थ की परिस्थिति में उसे बाहर में राग झंझट वैसे ही करने पड़ते हैं जैसे कि एक अज्ञानी गृहस्थ करता है। परन्तु सर्व क्रियाओं के करते हुए भी उसे अपने आपके बारे में यह ध्यान है कि मैं तो आकाशवत् अमूर्त निर्लेप अन्य सबसे विविक्त केवल चैतन्यमात्र पदार्थ हूँ। तो इस श्रद्धान में ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है कि वह अन्तर में दुःखी नहीं है। बाहर में कार्य सब करने पड़ते हैं। जिसको अपने आपका यथार्थ श्रद्धान् होगा उसकी ऐसी ही निराकुलता दशा होगी। उसकी पहिचान यह है कि यह लोगों के द्वारा किसी प्रकार का अपना नाम न चाहेगा। इस मायामयी असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप विनाशीक इन जीवों को वह अपने आपके बारे में महत्व की इच्छा नहीं रखेगा।

परचेष्टा से मेरा सुधार बिगाड़ असंभव—इस लोक में यदि १०-२० हजार पुरुषों ने कुछ मेरा नाम लेकर बड़प्पन बता दिया तो उन पुरुषों की चेष्टा से इस मुक्त आत्मा में कौनसा सुधार हो गया? बल्कि उस चेष्टा को निरखकर हम उसमें मोह कर सकते हैं और अपने आपको दुःखी कर डालते हैं, कर्मबंध कर डालते हैं। सारा जहान भी यदि नाम लेकर मेरा अपयश करे, उन सबकी चेष्टा के बावजूद भी इस अमूर्त मुझ आत्मा का कौनसा बिगाड़ होता है? यह ज्ञान जिनका सही रूप में टिका हआ है उनके विपर्ति नहीं आती है। जब अपने इस शुद्ध ज्ञान से चिंग जाता है तो स्वयं दुःखी होता है। अतः दुःख मिटाने के लिए यथार्थ ज्ञान का यत्न करना चाहिए, न कि बाह्य पदार्थों के संचय की धुनि बनानी चाहिए। चीज असल में यों है, पर मोही मानव अपने यथार्थ उपाय को तो करता नहीं और एकदम धनसंचय, लोगों को प्रसन्न रखने की चेष्टावों में ही अपना समय गुजारता है, वही अपराध है।

अपराध का अर्थ—अपराध शब्द का अर्थ क्या है—राध या राधा से जो अपगत है, मायने बाहर हो गया है। राधा कहिए, आत्मसिद्धि कहिए—राध् धातु का आत्मसाधन अर्थ है। जो अपने राधा से विमुख हो गया वह पुरुष अपराधी है। अपगतः राधः अस्मात् स अपराधः। जिस आत्मा में आनन्द सिद्धि नहीं है, आत्मा की दृष्टि नहीं है उस पुरुष को अपराधी कहते हैं। राधा का अर्थ है परद्रव्य का परिहार करके शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना इसे कहते हैं राधा। और ऐसी राधा जब नहीं रहती है तो उसे कहते हैं अपराधी। जब-जब अपने यथार्थस्वरूप की दृष्टि नहीं है तब तक हम अपराधी हैं और ऐसा अपराध जब तक रहेगा तब तक हम दुःखी ही रहेंगे। यह अवस्था परिग्रह और आरम्भ वाले में शोचनीय है। यहाँ तो बार-बार सर्व प्रकार की दृष्टियां हुआ करती हैं। लोक में अपनी कुछ इज्जत बनी रहे तो गृहस्थी चलती है, न इज्जत रहे

तो गृहस्थी नहीं चलती व्यापार नहीं चलता । लोगों को गृहस्थी के ऊपर कुछ विश्वास बना रहता है तो उसका काम चलता है । सो यद्यपि इस गृहस्थावस्था में इज्जत को कायम रखना भी बहुत आवश्यक है, पर यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि रात दिन के समयों में किसी भी एक मिनट के समय तो हम अपने को सारे जगत से न्यारा केवल चैतन्यस्वरूप मात्र अनुभव करें, यह की बहुत आवश्यक है ।

आत्मविमुखता से बिगड़—भैया ! यदि सबसे विविक्त चैतन्यमात्र अपने को नहीं देख सकते हैं आधा मिनट भी तो सारे दिन रात आकुलता में ही व्यतीत होंगे । सो वह जीवोद्धार वाली बात इस जीव को प्रधान होनी चाहिए । व्यवहार में यदि कुछ करके आ गया तो उसके बिगड़ न होगा, किन्तु अपने आत्मदर्शन से विमुखता हो गयी तो उसमें बिगड़ स्पष्ट भरा हुआ है । ७२ कलावों में दो ही कलाएं मुख्य हैं—एक आजीविका करना और दूसरे अपना कल्याण करना । आजीविका करना और दूसरे अपना कल्याण करना । आजीविका या धनसंचय में हमारा आपका वश नहीं । उदय अनुकूल ही तो होता है, न अनुकूल हो तो कितना ही श्रम करने के बाद नहीं होता है । धनसंचय करना हमारे हाथ की बात नहीं है, यह पूर्वोपार्जित कर्म के उदय का फल है तो उसमें हम अपनी बुद्धि क्यों फंसाये ? बजाय इसके कुछ यों दृष्टि दें कि उदय के अनुकूल जो कुछ भी मिले, उसके अन्दर अपना विभाग बनाकर गुजारा कर सकते हैं, इसमें हमारी क्षमता है ।

धर्मसाधना की स्वाधीनता—यह धर्मसाधन हमारे वश की बात है, उपयोग के आधीन बात है । सो अपने उपयोग द्वारा अपने आपको केवल ज्ञातावृष्टारूप मानें, देखें तो वहाँ चिंता और व्याकुलता फिर नहीं रहती है । बस, अपने स्वरूप से चिंगे यही अपराध है । यह अपराध जिस जीव के होता है, वह स्वयं दुःखी होता है, क्योंकि उसके उपयोग में परद्रव्यों को ग्रहण करने का परिणाम बना हुआ है—जैसे कि मेरी इज्जत हो आदि । यह इज्जत मेरा भाव नहीं है, परभाव है । उस परभाव को हम अपनाते हैं तो दुःखी होते हैं । मैं बड़ा धनिक बनूँ—ऐसा परिणाम परभाव है । इस परभाव को हम अपनाते हैं तो कष्ट में पड़ना प्राकृतिक बात है ।

धर्माराधना की प्रमुखता—यह धर्म का प्रकरण है । आजीविका की बात को तो एक ही बात में गर्भित करना, उदय होगा तो होगा । उदय अनुकूल है तो बुद्धि भी चलती है, श्रम भी सफल होता है और उदय अनुकूल नहीं है तो सब चीज बेकार हो जाती है । न बुद्धि चलती है, न श्रम होता है । ये सब संसार की घटनाएं हैं । संसार की घटनाओं में कर्म में विपाक प्रधान है, किन्तु मोक्षमार्ग के चलने में मेरे आत्मा का पुरुषार्थ प्रधान है । इसी से शाश्वत् स्वाधीन सुख मिलेगा और यह संसारमार्ग मुझे आकुलताओं में फंसाकर केवल जन्म मरण के चक्र में फंसायेगा । ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुष अपराध नहीं करता है, अपने आपकी ओर अपने आपको बनाए रहता है । मैं तो केवल शुद्ध ज्ञातावृष्ट हूँ, भाव ही मैं बना लूँ इतना ही मात्र मैं कर्ता हूँ, इतने ही मात्र मैं भोक्ता हूँ, मैं पर का करने भोगने वाला नहीं हूँ—ऐसा जो निरपराध रहता है, उसको संकट और बंधन नहीं आते हैं ।

मूल अपराध सहजस्वरूप की आराधना का अभाव—जो आराधना करता है वह बंधन में नहीं पड़ता है

। वह जीव कर्मों के विकट बंधन में पड़ा है, इसका कारण है कि यह जीव अपराध कर रहा है । क्या अपराध कर रहा है? आत्मा के शुद्धस्वरूप की आराधना नहीं कर रहा है । जो अपने आपको जाननभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मानता है, वह उसका मूल से ही विशाल अपराध है । मैं मनुष्य हूं, मैं स्त्री हूं, मैं धनिक हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं मोटा हूं, मैं तगड़ा हूं, इतने परिवार वाला हूं, अमुक-अमुक संस्था का मेम्बर हूं, अमुक प्रबंधक हूं, मिनिस्टर हूं, देश की रक्षा करने वाला हूं इत्यादि किसी भी प्रकार से अपने आपको मानता है तो वह अपराधी है और इस अपराध के फल में उसे बंधना पड़ता है । सुनने में ऐसा लगता होगा कि यह क्या अपराध है हम किसी कमेटी के मेम्बर हैं—ऐसा मानते हैं तो इसमें अपराध क्या हो गया? अपराध ये हैं कि तुम कमेटी के मेम्बर नहीं हो, तुम देश के रक्षक नहीं हो, तुम परिवार वाले नहीं हो, तुम धनी नहीं हो और मानते हो कि मैं यह-यह हूं—यहीं तो अपराध है।

सम्यग्ज्ञान की विशेषता—भैया! ! जैनसिद्धान्त में सबसे बड़ी विशेषता है तो वस्तु का यथार्थस्वरूप वर्णन करने की विशेषता है । पाप को तो सभी कहते हैं कि छोड़ना चाहिये । पुण्य और परोपकार को तो सभी कहते हैं कि करना चाहिये, तुम भी कहते हो कि करना चाहिये । घर का त्याग करके संन्यासी बनने को तो सभी कहते हैं, तुम सब भी कहते हो कि बनना चाहिए । पर वह कौनसा ज्ञान है, जिस ज्ञान के होने पर संसार के संकट टलते हैं, प्रेक्षिकल अपने आपमें शांति मिलती है? कौनसा ज्ञान है वह? वह ज्ञान वस्तुस्वरूप का यथार्थ वर्णन करने वाला सम्यग्ज्ञान है । तुम क्या हो? इसका जरा निश्चय तो करो ।

परभाव में अहम्मन्यता का अनर्थ—धनिक तो तुम हो नहीं, क्योंकि धन विनाशक वस्तु है, आता है और चला जाता है, प्रकट पर है । धन के कारण ही तो दूसरों के द्वारा सताये जाते हैं । डाकू ले जायें आपको जंगल में, तो देखकर परिवार वालों को दुःख होगा ही । चोर चोरी की धुन लगाये रहते हैं, सरकार की तिरछी निगाह बनी रहती है, विरोधी भी ईर्ष्या से मेरा बिगड़ करने का यत्न किया करते हैं । धन कोनसी सुखद और आपकी वस्तु है? धनिक आप नहीं है, यह तो बाह्यपुद्गलों का समागम है । शरीर भी आप नहीं है, शरीर आप होते तो यह आपके साथ जाता । शरीर यहीं रहता है, आप छोड़कर चले जाते हैं । जब शरीर आप नहीं रहे तो आप पुरुष कैसे? पुरुषाकार तो शरीर में ही है । जब शरीर ही तुम नहीं हो तो पुरुष और स्त्री कहां रहे?

प्रत्येक वस्तु की पर में कर्तृत्व की अयोग्यता—भैया! ! तुम तो सबसे न्यारे केवल चैतन्यमात्र हो । अब रही करने की बात । तो करने की बात भी विचार लो । तुम क्या करते हो? कोई कहता है कि हम दूकान करते हैं, सेवा करते हैं, देश की रक्षा करते हैं । दूकान और रक्षा तो बाहर जाने दो, तुम तो यह हाथ भी नहीं उठा सकते हो, जो तुम्हारे देह में लगा हुआ हाथ है । आप कहेंगे कि वाह, उठ तो रहा है । यह भ्रम है आपको । आप आत्मा एक ज्ञानपुञ्ज हो । अन्तर में देखो तो तुम ज्ञान के पिंड हो । जो ज्ञान है, ज्ञानघन है, यही तुम आत्मा हो । मेरा स्वरूप आकाश की तरह है । अन्तर यह है कि आकाश के चेतना नहीं है, आपमें चेतना है । आकाश निस्सीम पड़ा हुआ है ओर आप निज देहबंधन के कारण अपने देहमात्र में हो—इन दो बातों में अन्तर है, बाकी तो अमूर्त में जैसा आकाश है तैसे आप है । न आकाश में रूप, रस, गंध, स्पर्श है

और न हम आपमें रूप, रस, गंध, स्पर्श है ।

आत्मा में मात्र स्वपरिणाम का कर्तृत्व—भैया ! तुम तो केवल जाननहार हो और उपाधिभाव में विकारभाव आता है, सो वर्तमान में इच्छा के भी करने वाले हो । इतनी ही मात्र हम और आपकी करतूत है कि जान जायें और चाह करने लगें । इससे आगे हमारा वश नहीं है । अब इससे आगे अपने आप निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण पुद्गल में अपने आप काम होता है । लोग कहते हैं कि यह मशीन ओटोमेटिक है, अपने आप छापती है और अपने आप छापे हुए कागजों को एक जगह रखती है । ऐसा सर्वथा ओटोमेटिक नहीं है, उसमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध लगा हुआ है । इस पुर्जे के जोड़ का निमित्त पाकर वह पुर्जा भी चला, उसका निमित्त पाकर वह पुर्जा यो चला, उसके प्रसंग में कागज आया तो उसका यह कार्य हुआ । निमित्तनैमित्तिक संबंध न लगा हो और कोई अकेले ऐसा करले—ऐसा वहाँ नहीं है ।

स्वरूप की समझ बिना धर्म की दिशा का भी अपरिचय—आत्मा में इच्छा और ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका निमित्त पाकर आत्मप्रदेश में हलन-चलन होता है । उस प्रदेश में परिस्पंद का निमित्त पाकर शरीर में जो वायु भरी है उस वायु में लहर चलती है और वायु के चलने से शरीर के अंग उठते है? । तो यों हाथ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध से उठ गया, पर इसका उठाने वाला साक्षात् आत्मा नहीं है । आत्मा तो सिर्फ ज्ञान करता है और चाह करता है । इसके आगे आत्मा की करतूत नहीं है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है और पर का अकर्ता है—ये दो बातें समझने की है । धर्मपालन करने के लिये हैं । ये दो बातें समझ में न आएँ तो खेद के साथ कहना होगा कि धर्मपालन करने के लिए इतना बड़ा परिश्रम भी किया जाता है—नहाना, धोना, समारोह करना, बड़ा प्रबंध करना, बड़े-बड़े श्रम भी कर लिए जायें तो भी मोक्ष में जाने के नाते, मोक्षमार्ग के नाते उसने रंच भी धर्म नहीं किया ।

धर्म में मूल दो परिज्ञान—भैया ! इन दो बातों को खुद समझ लो कि इतनी बात है और सारभूत बात है। एक तो यह जान लो कि मैं तो केवल ज्ञान का पिटारा हूं, चैतन्यमात्र हूं, इसके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं। मेरा स्वरूप ही मेरा है, मेरे चैतन्यस्वरूप से अतिरिक्त अन्य कुछ परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। एक बात तो यह प्रतीति में रख लो। क्या हर्ज है यदि सही बात जानने लगें? घर नहीं कोई दूसरा छुड़ा रहा है, कोई धन-वैभव नहीं छुड़ाया जा रहा है, वह तो जैसा है सो होगा। जो परिणमन होना होगा वह होगा, पर यथार्थ बात विश्वास में लेने से मोक्षमार्ग मिलेगा, कर्म करेंगे, बंध रुकेगा, दृष्टि मिलेगी, इस कारण एक सही बात मानने में कौनसी अटक अनुभव में की जा रही है। बीच के सर्व पर्दों को तोड़कर एक अपने यथार्थस्वरूप के ज्ञान में आवो। दूसरी बात—इसका निर्णय कर लें कि वास्तव में करता क्या हूं? मैं केवल जानना और चाहना—इन दो बातों को किया करता हूं। चाहने के उपलक्षण में सर्वविकल्प गर्भित हैं।

सम्यग्ज्ञान की आराधना से प्रभुभक्ति की सफलता—विकल्प करना और जानना—ये दो बातें वर्तमान में किया करता हूं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता हूं। ऐसा यदि विश्वास में मान सकते हो तो समझो कि हमने प्रभुभक्ति में कुछ पाया, अन्यथा प्रभु के गुण गाते रहें और भीतर में यह ज्ञान बना रहे कि मैं तो जो चाहूं, सो कर सकता हूं। मैं भीत उठा लूं, दूसरे को बरबाद कर दूं, दूसरे को सुखी-दुःखी कर दूं, यह विश्वास

बना रहा तो समझो मैं प्रभु का एक रक्ती भी भक्त नहीं हूं। प्रभु के गुण समझ में न आयें और प्रभु के हम भक्त कहला सकें, यह तो हो ही नहीं सकता। प्रभु का गुण क्या है? वह कृतकृत्य है, सर्वपदार्थों से विविक्त है, अपने स्वरूपमात्र है, जिसने अपने उपयोग को केवल अपने स्वरूप में रमाया और यह सारभूत कार्य किया, वही तो प्रभु है और जैसा प्रभु का स्वरूप है तैसा ही हमारा स्वभाव है, जब तब यह विश्वास नहीं है तो प्रभु का और भक्त का सम्बन्ध ही नहीं है। तो ये दो बातें बहुत दृढ़ता से निर्णय में रहें तो हम अपराधी नहीं हैं।

स्वभावविमुखतारूप महा अपराध—भैया ! कोई पुरुष अच्छे धन वाला है, स्त्री-पुरुष दोनों हैं, अपने घर में रहते हैं, किसी को सताते नहीं, किसी से लेन-देन नहीं व्याज और किराये से ही सब काम चलता है, बड़े प्रेम से रहते हैं। इस प्रकार रहने वाले गृहस्थ यह सोचें कि मैं तो किसी का कोई अपराध नहीं कर रहा, न किसी आदमी को सताता हूं, न किसी की बुराई करता हूं, मिया बीबी घर में रहते हैं, मौज करते हैं, तीसरा कोई झगड़ा नहीं, न बच्चों का और न किसी का। मैं तो बेकसूर हूं—ऐसा कोई गृहस्थ माने तो बतलावों क्या वह बेकसूर है? वह अपराधी है, क्योंकि उसने ये दोनों ही बातें नहीं मानी। मैं तो स्त्री वाला हूं, इतने बैबव वाला हूं, जो यह भोगता है, आराम पाता है, यह मैं हूं, अच्छी स्थिति में हूं—ऐसा अज्ञान अंधकार में पड़ा हुआ है। घर की अच्छी व्यवस्था बना रहा हूं, सब खर्च और आजीविका ठीक निम रही है—ऐसी कर्तृत्वबुद्धि लगाए है, उसे निरपराध कोई कह सकता है क्या ?

परपरिहारी के निरपराधता—निरपराध पुरुष वह है जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की आराधना कर रहा हो। ऐसा पुरुष शुद्ध आत्मा के प्रति दृष्टि होने से बंधभाव से रहित हैं और वह शांति का पात्र है, किन्तु जो परद्रव्यों को अपनाने में लगा है, उसके केवल चैतन्यस्वरूपमात्र आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्व पर दृष्टि नहीं है सो ओटोमेटिक निमित्तनैमित्तिक भाव वश संसार में पड़े हुए कामार्ण वर्गणाएं कर्मरूप हो जाती हैं और देह का बंधन, कर्म का बंधन और रागद्वेष भावों का बंधन—ये सब बंधन चलते रहते हैं। हां, जो निरपराध पुरुष है, जो समस्त द्रव्यों का परिहार करता है अपने उपयोग द्वारा समस्त परद्रव्यों से न्यारा अपने आपको लखता है, उसके शुद्ध आत्मा की सिद्धि है। उपयोग द्वारा निज शुद्ध तत्त्व पर उसकी पहुंच है, सो बंध की शङ्का नहीं हई।

शुद्धात्मतत्त्वप्रसिद्धि—भैया ! वह ऐसी स्थिति क्या होती है? मैं एक उपयोगमात्र चैतन्यमात्र, जानन देखन की वृत्तिमात्र स्वतन्त्र आत्मा हूं, ऐसा वहाँ निश्चय है, इस कारण सदा ही उसके शुद्ध आत्मा की सिद्धि है अर्थात् शुद्ध आत्मा की आराधना चल रही है। सो जो शुद्ध आत्मा की राधा के साथ निरन्तर चल रहा हो, वह ज्ञानी आत्मा आराधक ही है, अपराधी नहीं।

आत्मानाराधकता—अपराधी कहो या अनाराधक कहो—दोनों का एक अर्थ है। जो अपने सच्चे ज्ञानस्वभाव की दृष्टि नहीं रखता वह अपराधी है। जो अपराधी है वह अवश्य बंधेगा। वर्तमान में कोई मौज में है, इसका गर्व करना व्यर्थ है। क्या मौज है संसार में? एक घण्टा भी कोई सुखी नहीं रह सकता—किसी भी पुरुष को बता दो। आधा घण्टा भी कोई सुखी नहीं रह सकता। उसके भीतर की कम्पनी को देख लो—

मारे कल्पनाओं के सुख के बाद दुःख, दुःख के बाद सुख—ऐसी कल्पनाएं उठा करती है। सो अपनी-अपनी कल्पना से सभी अपने आपमें क्लेश पा रहे हैं। वह कल्पना मिटे—ऐसा ज्ञानप्रकाश हो तो क्लेश मिटेंगे अन्यथा न धन के बहुत होने से क्लेश मिटते, न इस मायामयी जगत् में मायामयी इज्जत के होने से क्लेश मिटते। क्लेश मिटते हैं आत्मीय स्वाधीन अपूर्व पुरुषार्थ से। जो अपने स्वरूप का अज्ञान है वही महान् अपराध है। ऐसा अपराधी पुरुष निरन्तर अनन्त कर्मों को बांधता रहता है।

सपराध व निरपराध की वर्तनायें—जो अपने आपके उस सहजस्वरूप को दृष्टि में लिए हुए है और जिसके यह दृढ़ प्रत्यय है कि मैं तो मात्र चैतन्यस्वरूप हूँ, वह कभी बंधन को प्राप्त न होगा। कदाचित् कुछ बंधन चलता रहता है तो वह ऊपरी बंधन है, अल्पबंधन है। बांधने के लिप बंधन नहीं है, किन्तु बंधन रहता है। अपराधी पुरुष वह है जो अपने आपको निरंतर अशुद्ध रूप में ही मानता रहता है अर्थात् जैसा मैं नहीं हूँ, वैसा मानता रहता है। देखो, करना-धरना तो कोई बाहर में कर ही नहीं सकता, चाहे ज्ञानी पुरुष हो, चाहे अज्ञानी पुरुष हो, पर अपने ही प्रदेश में अपना अस्तित्व रखे हुए यह जीव जो अपने आपको अज्ञानरूप मान रहा है कि मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, बड़ा हूँ, जो मैं सोचता है यह विवेक की बात है, यह करने की बात है—ऐसा अपने आपको औपाधिक नाना भावरूप जो मानता है वह अपराधी है। जो अपराधी है वह बंधता है और जो निरपराध है वह छूट जाता है।

अपराध संकट—निरपराध वह है जो शुद्ध ज्ञान दर्शनमात्र, जानन प्रकाशमात्र अपने आपको भजता है, अपने आपकी सेवा करता है यह है निरपराधी। इस जीव पर बड़े संकट छाये हैं। वे संकट है विकल्पों के। जिससे आज सम्बन्ध माना है मान लो वह गुजर जाए या स्वयं गुजर जाए तो फिर क्या रहा? जितने काल समागम भी है, उतने काल भी सबकी खिचड़ी अलग-अलग पक रही है। यह नहीं जानता कि मुझ पर इसका राग है या इस पर मेरा राग है। सर्व जीव भिन्न हैं और अपने-अपने विकल्प के द्वारा अपने में द्वन्द्व मचाए हुए हैं।

मोहसंकट—भैया! सबसे बड़ा संकट है जीव पर तो इस मोह का संकट है, जो मोह बिल्कुल व्यर्थ की चीज़ है। मोह कर लिया तो क्या नफा कर लिया और मोह न करते तो क्या ठोटा रहता? पर ऐसी उमंग उठती है अन्तर से, अज्ञान की प्रेरणा से कि यह अपने घर में रह नहीं सकता। परपदार्थों की ओर दृष्टि बनाए रहते हैं। सो जब तक मोह में अन्तर न पड़ेगा, तब तक शांति की आशा करना बिल्कुल व्यर्थ है। शांति चाहते हो तो क्रांति लाइए अपने आपमें मोक्षमार्ग में लगने की। दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते कि विषयकषायों में भी लगते रहें और शांति भी मिलती रहें। या तो भोग-भोग लो या विश्राम पा लो, शांति पा लो, मोक्षमार्ग पा लो।

जीवन की सफलता—भैया! यह जीवन बड़ा दुर्लभ जीवन है। इस जीवन में यदि अपने आपके शुद्ध आत्मस्वरूप की दृष्टि न पा ली तो बहुतसा धन-वैभव भी पा लिया, परिवार, सोना, चांदी, इज्जत सब कुछ पा लिया तो क्या? ये सब इन्द्रजाल हैं, मायास्वरूप हैं। जो इन्द्रजाल में फँसता है वह संसार में भटकता है। अब जो मन हो सो कर लो। मोह में लगे रहने का फल है चिरकाल तक पशु, मनुष्य, कीड़े-मकौड़े,

नारकी, पेड़-पौधे बन बनकर जन्म-मरण करिये । मोह न रहे, ज्ञान का शुद्ध प्रकाश हो, अपने आपकी वास्तविक श्रद्धा हो और उसी श्रद्धा सहित प्रभु के गुण की भक्ति हो तो समझ लीजिए कि हमारा जन्म सफल है और हम शांति के पात्र हैं, धर्म में लगेंगे । इसलिए ज्ञानबल द्वारा मोह को दूर करने का प्रयास कीजिएगा । बस यही मात्र श्री जिनेन्द्रदेव का धर्म उपदेश है, जीवन मार्ग है ।

दोषनिवारणी दृष्टि—इस प्रकरण में बात यह चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र मैं हूँ और ऐसा ही जानने में उपयोगी रहता है, वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूप में अपने को न लखकर बाह्यपरिणमनोरूप अपने को तक रहा है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, अमुक पोजीशन का हूँ आदिक रूप से जो अपने को देखता है वह अपराधी है । जो अपराधी होता है वह कर्मों को बांधता है, जो निरपराध होता है वह कर्मों से नहीं बंधता । इस प्रकरण से शिक्षा यह मिलती है कि धर्म के लिए, संतोष के लिए, संकटों से छूटने के लिए अपना जो वास्तविक अपने अस्तित्व के कारण जैसा हूँ उसी रूप अपने को लखते रहे, इससे सर्व दोष दूर हो जायेंगे ।

शुद्धात्मोपासना का संकेत—भैया ! प्रकरण बड़े ध्यान से सुनने का है । बीच में यदि दो चार वाक्यों को अनुसुना कर दिया तो उससे आगे की बात में कुछ विष्ण आ सकता है समझमें । बात क्या कही जा रही है कि जो अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप में अपने को मानता है वह है बेकसूर । जो अपने को नेता, प्रमुख, कार्यकर्ता किसी भी रूप में समझता है, वह अपराध करता है । यह है बंध और अबंध के निर्णय का प्रकरण । इसलिए क्या करना चाहिए ? शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना में अपना प्रकाश करते रहना चाहिए ।

एक अध्यात्मजिज्ञासा—यह बात सुनकर एक जिज्ञासु बोला कि इस शुद्ध आत्मा की उपासना के प्रयास से क्या लाभ है? अरे ! शुद्ध तो होता है प्रतिक्रमण से, व्रत-नियम से, संयम से, आलोचना से । अपने आपको अपने दोष पर पछतावा करना, गुरु के समक्ष अपनी त्रुटियों की निन्दा करना आदिक उपायों से शुद्धि हुआ करती है । क्या शुद्ध आत्मा की उपासना करने का उपदेश लाभ देगा ? लाभ तो इस प्रतिक्रमण आदिक से व्रत संयम आदिक से है । इससे ही जीव निरपराध होता है, क्योंकि जो अपराधी पुरुष है और वह प्रतिक्रमण, आलोचना, पछतावा दण्ड ग्रहण नहीं करता तो उसका अपराध दूर नहीं हो सकता और उसके ऐसे अप्रतिक्रमण आदिक विषकुम्भ हैं और प्रतिक्रमण करना, पछतावा करना, अपने दोष बखानना आदि ये सब अमृतकुम्भ हैं, इससे सिद्धि होती है, फिर शुद्धआत्मा की उपासना करने के प्रयास से क्या लाभ होगा ?

अवगमन का उद्यम—यहाँ जिज्ञासु एक प्रश्न कर रहा है । प्रकरण जरा कठिन है और अध्यात्मयोग का बहुत उत्कृष्ट वर्णन में ले जाने वाला मिलेगा, पर भली बात समझनी तो तुम्हीं को पड़ेंगी । कठिन है, कठिन है, ऐसा समझकर बाहर-बाहर बने रहने से अपनी चर्चा से दूर रहे; इससे तो जीवन में कभी भी पूरा नहीं पड़ सकता । कितना ही कठिन कुछ हो, बार-बार सुनने और समझने का प्रयास करना चाहिए । यद्यपि कठिन बात को समझने की शैली विद्याभ्यास है । क्रम से उन वस्तु का अवलोकन हैं, जो पढ़ने में अपना क्रम रखते हैं, उनको सुगम हैं, फिर भी स्वाध्याय के बल से जो कुछ श्रुतज्ञान किया है, प्रायः आप सब गृहस्थों को उस श्रुतज्ञान में भी ऐसी योग्यता होती है कि कठिन से कठिन विषय को फिर भी सरलता से

समझा जा सकता है ।

जिज्ञासा का विवरण—बात यह सीधी चल रही है कि अभी आचार्यमहाराज ने यह उपदेश किया था कि भाई अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप में अपना विश्वास जमावो । तुम हो कैसे ? इस बात को भुला दो, जो हो वह मिट्टा नहीं है । यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निमित्त अथवा औपाधिक अन्य चीजों पर आप दृष्टि न दें और मात्र अपने केवल स्वरूप पर दृष्टि दें तो हित की आशा की जा सकती है । अतः अपने चैतन्यस्वरूप में दृष्टि दो तो निरपराध रहोगे, कर्मबंध न होगा, यह बात आचार्यदेव ने कही थी, तिस पर एक जिज्ञासु ने यहाँ प्रश्न उठाया कि संतों की उपासना करना गुरुवों के समक्ष संकल्प करना, ब्रतनियम करना—इनसे सिद्धि होगी । शुद्ध आत्मा का ज्ञान करें तो मात्र उस दृष्टि से कोई लाभ नहीं है ।

पूर्वपक्ष की आगम से सिद्धि—शंकाकार अपने पक्ष को आगम से सिद्ध करता है । आचारसूत्रों में भी स्पष्ट यह बताया है कि प्रतिक्रमण न करना, प्रतिसरण न करना, प्रतिहरण न करना, निवृत्ति न करना, निन्दा न करना, किसकी ? अपनी । अपने को शुद्ध न करना यह तो विष से भरा हुआ घड़ा है । और प्रतिक्रमण करना, परिहार करना, धारणा करना, निवृत्ति करना, अपनी निन्दा करना, गर्हा करना, शुद्धि करना यह अमृतकुम्भ है । ग्रन्थों में भी साफ-साफ बताया है, फिर भी व्यवहारधर्म की उपेक्षा करके उसकी कुछ इज्जत न रखकर तुम यहाँ यह बोल रहे हो कि शुद्ध आत्मा के स्वरूप की उपासना करो तो बंधन न होगा । यहाँ एक जिज्ञासु ने विषय उठाया है, उसका उत्तर देते हैं । इस उत्तर में दो गाथाएं एक साथ आ रही हैं ।

गाथा ३०६-३०७

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।

णिंदा गरहा सोही अटुविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥

अपडिकमणं अपडिसरणं अपरिहारो अधारणा चेव ।

अणियत्तीय अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥

त्रिपदी—इन गाथाओं का अर्थ जानने से पहिले साधारणतया पहले यह जानियेगा कि जीव के मोक्ष से पहिले तीन अवस्था होती है । जैसे एक अनियमरूप, धर्मप्रवृत्तिरहित याने रंच संयम न होना, अब्रतरूप प्रवृत्ति रहना, ब्रत न होना । जब यह जीव और ऊपर उठता है तो उसके संयम और ब्रतरूप प्रवृत्ति रहती है और फिर जब इससे और ऊपर उठता है तो संयम और ब्रतरूप प्रवृत्ति भी नहीं रहती है, पर उस असंयम में और ऊपर के इस असंयम में बड़ा अन्तर है । एक मोटेरूप से समझने के लिए बात कही है संयम की, वस्तुतः ऊपर अंतःसंयम रहता है ।

त्रिपदी का विवरण—प्रकृत बात ले लो—पहिली दशा तो जीव की ऐसी रहती है कि वह अपने दोष पर पछतावा कुछ करता ही नहीं है । अज्ञानी पुरुष पापकार्यों में, व्यभिचारों में आसक्त होकर क्या कभी पछतावा भी करता है नहीं करता है । वह तो पापकार्यों में ही लगा रहता है । निकृष्ट दशा है पछतावा न करना । फिर जब इससे कुछ ऊपर विवेक की स्थिति आती है, तब दशा बनती है कि पछतावा भी करना ।

अपने गुरुवों को दोष सुनाना, अपने किए हुए दोषों पर पछतावा भी करना और जब वह और ऊपर उठता है और आत्मा में उनको अपना निरन्तर दर्शन बना रहता है। ऐसी स्थिति में क्या पछतावा करता है? फिर वहाँ पछतावा नहीं रहता है। पछतावा तो अत्यन्त नीची दशा में नहीं रहता है या अत्यन्त ऊपरी दशा में नहीं रहता है। ध्यान में आया ना।

विषकुम्भ और अमृतकुम्भ का विचार—पछतावा न आना बतावो विष है कि अमृत है? निम्न दशा में पछतावा न आना तो विष है और जब अत्यन्त ऊँची अवस्था में जो पछतावा नहीं आ रहा है, आत्मरस में रुसि है, वह पछतावा न आने की दशा तो अमृत है ना। आगम में दोनों बातें कही हैं। पछतावा न आना विष है और पछतावा न आना अमृत भी है। अध्यात्मयोग में जब बहुत गहराई में उतर जाते हैं और अपने आत्माराम के वैभव में तृप्त रहते हैं, वहाँ प्रवृत्तियां सब समाप्त हो जाती हैं। इन दोनों स्थितियों का मुकाबला रखकर यह प्रश्नोत्तर चल रहा है। जिज्ञासु के प्रश्न का तो यह भाव था कि प्रतिक्रमण न करना आदिक बातें तो विषकुम्भ है। पर यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं कि प्रतिक्रमण करना विषकुम्भ है, पछतावा करना विषकुम्भ है, धारणा करना विषकुम्भ है आदि।

मध्यपद की सापेक्षता—जो जीव निम्न श्रेणी के हैं, अज्ञानदशा के हैं, उनको तो संयम न करना, संकल्प न करना, पछतावा न करना, किसी को गुरु न बनाना, गुरुवों से अपने दोष न कहना—ये सब विषकुम्भ हैं और उनके लिए नियम करना अमृतकुम्भ है। गुरु बनाना, गुरुवों से दोष कहना, अपनी निन्दा करना—ये सब अमृतकुम्भ हैं। पर जब ज्ञानी बनकर उत्कृष्ट अध्यात्म की रति करने लगता है तो उसके लिए प्रतिक्रमण करना, संकल्प करना, यह है विष और कुछ प्रवृत्ति न करना, ऐसे अप्रतिक्रमण आदिक यही हैं उसके लिए अमृत। अज्ञान और ज्ञान में स्वभावभेद है।

उपादानानुसार वृत्ति का एक उदाहरण—एक धोबी था। उसके एक गधा था, जिसके द्वारा वह अपनी आजीविका चलाता था। उसके घर में एक कुतिया थी, उसके तीन-चार पिल्ले हुए। वे पिल्ले जब महीने भर के हुए तो वह इन्हें खूब खिलाने लगा, कभी उन पिल्लों को हाथ से उठाए, कभी-कभी थोड़ा उचकाए और कभी छाती से लगाए, कभी मुंह से लगाये। पिल्ले कभी पंजा मारें, कभी ऊपर चढ़ें। बराबर में बन्धे हुए गधे ने सोचा कि हम पर तो यह बोझा लादता है, हमारे ही द्वारा इसके घर का पालन-पोषण होता है फिर भी हमें यह यों नहीं खिलाता और ये पिल्ले जो कुछ काम नहीं आते, जो नोच रहे हैं, ऊपर चढ़ रहे हैं, इन्हें गोदी में खिलाता है। इसका क्या कारण है? सोचते-सोचते ध्यान में यह आया कि यह पिल्लों से इसलिए प्यार करता है कि ये धोबी के पैरों को पञ्जा मारते हैं। अपन भी ऐसा करें तो अपने को धोबी मालिक का प्यार मिलेगा। इतना सोचकर गधा जनाब उस कच्ची रस्सी को तोड़कर धोबी के पास आ गया। आगे के पैरों से तो गधे मार नहीं पाते, सो वह पीछे के दोनों पैरों से उस धोबी को मारने लगा। इस धोबी ने डण्डा उठाकर ५-७ डण्डे जमाये। खूब पिटकर गधा अपने स्थान पर आ गया और सोचने लगा कि क्या गलती हो गयी? वही काम तो पिल्लों ने किया तो वे प्यार पा रहे हैं और वही काम मैंने किया सो डंडे लगे। सो भाई सबकी जुदी-जुदी योग्यता की बात है। पिल्लों जैसा काम गधा करे तो नहीं कर सकता है।

अधिकारियों का निर्णय—यह बात जो कही जा रही है कि प्रतिक्रमण न करना, धारणा न करना आदि बातें अमृत हैं, पर किसके लिए अमृत है? जो ज्ञानबल से और शुभोपयोग की स्थिति से ऊँचा उठ रहा है उसके लिए अमृतकुम्भ है, कहीं निष्कृष्ट पद में आने वाले के लिये अमृतकुम्भ नहीं हैं। इस सबका अब अर्थ बतलाते हैं कि ये ८ चीजें जो कही गयी हैं, जिनके बारे में यह चर्चा चली है कि यह विष है या अमृत, उनका अर्थ सुनिये।

प्रतिक्रमण का भाव—प्रतिक्रमण का अर्थ है—अपने किए हुए दोषों का निराकरण करना। अपने किए हुए दोषों का निराकरण होता है बड़ी तपस्या से, दण्ड ग्रहण करने से। तो बतलावों कि ऐसा प्रतिक्रमण करना अमृत है या विष? बतलावों अच्छा, प्रतिक्रमण विष है या अमृत? निष्कृष्ट दिशा वालों के लिए तो प्रतिक्रमण अमृत है और ऊँची स्थिति में ज्ञानवृत्ति के मुकाबले में उसके लिये यह द्रव्यप्रतिक्रमण विष है और इसमें निश्चयप्रतिक्रमणरूप प्रतिक्रमण अमृत है।

देवपूजा के हेयोपादेय का निर्णय—यहां एक मोटी बात कहेंगे। भगवान की द्रव्यपूजा करना विष है कि अमृत है? यह बात सामने है। तो जो निष्कृष्ट जन है, हमी सब लोग हैं, ऊँची स्थिति में नहीं हैं, अध्यात्मयोग में नहीं हैं उनके लिए यह कहा जायेगा कि पूजा करना अमृत है। अपने आत्मस्थ रहना यह ऊँची स्थिति नहीं है। सो निष्कृष्ट जनों की अपेक्षा पूजा करना अमृत है और निर्विकल्प उल्कृष्ट जनों की अपेक्षा पूजा करना विष है। जो निर्विकल्प स्थिति चाहते हैं अथवा स्वानुभव की स्थिति चाहते हैं उनको पूजा करने का विकल्प भी विष दिखता है। वे जानते हैं कि इससे भी ऊँची, ऊपर उठी हुई ज्ञानी आत्मा की अवस्था हुआ करती है। इसी तरह इन सब बातों को घटाना है।

ऋग्वेद अवबोध—यह है मोक्षाधिकार का अंतिम वर्णन जिसके बाद मोक्षाधिकार समाप्त होगा। उसमें यह बतला रहे हैं कि बंधन से छूटना है तुम्हें तो उसका ऋग्वेदिक उपाय करते जाइए। पहिले तो साधारण ज्ञान कीजिये, जीव कितने हैं, संसारी कितने हैं, मुक्त किसे कहते हैं, इत्यादि साधारण ज्ञान चाहिए। इसके बाद फिर पर्याय का ज्ञान बढ़ाइए। गुणस्थान १४ है। जीव समाप्ति १४ है। मार्गणायें १४ हैं—उनके भेद प्रभेद हैं ताकि यह विदित हो कि जीव अमुक-अमुक स्थिति में रहते हैं। फिर और बढ़िये तो अब उन सब बातों को द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीन शैलियों से ज्ञान करने लगिये। जो भी चीज ज्ञान में आए उसमें द्रव्य क्या है, गुण क्या है? परिणमन क्या है, इस शैली से ज्ञान कीजिए। इस शैली से ज्ञान करने में प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने लक्षण जानने होंगे। जैसे जीव का लक्षण है चेतना, पुद्गल का लक्षण है मूर्तता—रूप, रस, गंध, स्पर्श होना और धर्मादिक का लक्षण है गतिहेतुत्व आदिक। प्रकृत में दो बातों पर चलना है। पुद्गल का लक्षण तो मूर्तिकता और जीव का लक्षण है चेतना। तो अपने-अपने लक्षण का ज्ञान करिये।

प्रयोजनीय ज्ञान—इसके पश्चात् भेदविज्ञान करिये। जहाँ चेतना है वहां मैं हूँ, जहाँ चेतना नहीं है वहां मैं नहीं हूँ। भेदज्ञान करने के बाद जो छोड़ने योग्य है उसकी दृष्टि छोड़िये। जो ग्रहण करने योग्य है उसकी दृष्टि करिये। छोड़ने योग्य है अचेतन और अचेतन भाव। ग्रहण करने योग्य है यह चैतन्यस्वरूप। उसे ग्रहण करिये। ग्रहण कैसे करेंगे? यह चेतनामात्र मैं हूँ। चेतन का काम क्या है? चेतना। मैं चेत रहा हूँ, मैं चेतते

हुए को चेत रहा है। चेतते हुए के लिए चेत रहा हूँ, चेतते हुए को चेतता हूँ, इस चेत रहे में ही चेतता हूँ। इस तरह चेतने के उपाय द्वारा अपने आत्मा को ग्रहण करें। ऐसा जानने के बाद वह देख रहा है कि चेतने वाला कोई दूसरा नहीं है जिसको चेता जाये, वह तो एक चैतन्य भावमात्र है। तो उन सब विकल्पों का निषेध करके मैं चेतनमात्र हूँ इस प्रकार अपने को पकड़ना है।

आत्मग्रहण—फिर जब विशेष पकड़ में चला तो अपने को जानन द्वारा ग्रहण करता है। मैं जानता हूँ, किसको जानता हूँ? इस जानते हुए को ही जानता हूँ। काहे के द्वारा जानता हूँ, इस जानते हुए के ही द्वारा जानता हूँ। किस लिए जानता हूँ? इस जानते हुए के लिए ही जानता हूँ। किसमें जानता हूँ? इस जानते हुए में जानता हूँ। और किससे ऐसा प्रवर्तन निकालकर जान रहे हो, इस जानते हुए से ही जान रहा हूँ। फिर सोचा कि जानने वाला कोई दूसरा नहीं हैं, जिसको जान रहे हो वह जो जान रहा है वह पृथक् नहीं है और फिर किस लिए जान रहे हो, वहाँ जानना ही क्या हो रहा है? एक ज्ञानमात्र भाव है। इस तरह ज्ञानी ज्ञान गुण के द्वारा अपने को पकड़ रहा है।

आत्मावभासन—इसी प्रकार उसने दर्शन गुण के द्वारा भी अपना ग्रहण किया। मैं क्या करता हूँ देख रहा हूँ, इस देखते हुए को देख रहा हूँ, देखते हुए के द्वारा देख रहा हूँ, देखते हुए के लिए देख रहा हूँ, देखते हुए को देख रहा हूँ, देखते हुए में देख रहा हूँ, ओह वह दिखने वाला अन्य नहीं जिसको देखा जा रहा है। दिखाता भी क्या है? यह तो केवल दर्शन भाव मात्र है। इस तरह अपने अन्तरभाव में घुसकर वह अपना प्रकाश पा रहा है। अपने आपको ग्रहण कर रहा है। ऐसी अध्यात्मसाधना करने वाले की कहानी है। कहीं ऐसा निषेध सुनकर कि प्रतिक्रमण आदिक करना विषकुम्भ है तो निकृष्ट जीव उसे छोड़ न दे, यह ऊंचे अध्यात्मयोग में बढ़ने वाले पुरुष की कहानी है।

द्रव्यप्रतिक्रमणादि की उभयरूपता—इस मोक्षाधिकार में प्रारम्भिक भावों को लेकर अंतिम चैतन्यमात्र भावरूप वर्णन करके अब आचार्यदेव यह बतला रहें हैं कि व्यवहार आचार सूत्रों में तो प्रतिक्रमण आलोचना निन्दा आदि को अमृतकुम्भ बताया है, शुद्धि के साधकतम बताया है किन्तु उससे और उत्कृष्ट ज्ञानपद की दृष्टि में तो ब्रत-अब्रत दोनों से रहित अवस्था है वहाँ ये सब विषकुम्भ माने जाते हैं। उन्हीं ८ चीजों का अब अर्थ कर रहे हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ तो है लगे हुए दोषों का निराकरण करना। ये आठों की आठों बातें तीनों पदवियों में दिखती हैं। एक अज्ञानी अवस्था में और एक ज्ञानी होकर साधना अवस्था में और एकमात्र ज्ञानवृत्ति की अवस्था में; तो प्रतिक्रमण का अभाव होना अज्ञान अवस्था में विषकुम्भ है और ज्ञानी की साधना की अवस्था में प्रतिक्रमण करना अमृतकुम्भ है किन्तु इससे ऊपर ज्ञानवृत्ति की अवस्था में फिर भी प्रतिक्रमण से अलग रहना, गुरुओं के पीछे-पीछे फिरना, विकल्प करना—ये सब उस ज्ञानवृत्ति के मुकाबिले में विष हैं, विषकुम्भ हैं याने हेय हैं।

त्रिपुटी का व्यावहारिक उदाहरण—अच्छा रोटी बनाते हैं तो सिगड़ी लाना कोयला जलाना लकड़ी में फूँक मारना ये सब रसोई के लिये अच्छे काम हैं ना, अब रोटी बन चुकी पूरी, फिर लकड़ी ले आना, फूँक मारना, कोयला जलाना, आंसू बहाना वे बातें अच्छी हैं कि बुरी हैं? ऐसे ही इन तीनों पदों में इन बातों को

देखना है ।

प्रतिसरण का भाव—दूसरा भाव बताते हैं प्रतिसरण । प्रतिसरण का अर्थ है सम्यक्त आदिक गुणों में अपने को प्रेरित करना । धर्मात्मा जनों में वात्सल्य करना, धर्म में उन्हें स्थिर करना सेवाएं करना, धर्मात्माओं के प्रति सेवा में ग्लानि न करना, जिन-वचनों में शंका न करना और अपने चारित्र संयम के द्वारा अथवा अन्य समारोह अतिशय प्रभावना के द्वारा धर्म की प्रभावना करना ये चीजें अच्छी हैं या बुरी हैं? तो प्राक् पदवी में तो साधारण जनों में तो अच्छी चीज है और सर्वथा ही अच्छी चीज हो तो तीर्थकर, चक्रवर्ती, बड़े-बड़े लोग इन व्यवहारवृत्तियों को तज कर मोक्ष में क्यों पहुंच गए? अब वहां ठलुवा क्यों बैठें? तो मालूम होता है कि ये ही सब धर्म की प्रवृत्तियां अब उस पद के मुकाबले में विषकुम्भ हो गई हैं । सो ज्ञानी पुरुष के एक विशुद्ध दृष्टि जगी रहती है ।

प्रतिहरण का भाव—तीसरा भाव है प्रतिहरण । मिथ्यात्व रागादिक दोष निवारण करना, सो है प्रतिहरण । न आ सके राग, यही तो कल्याण है । अगर राग आ रहा हो तो ऐसा विचार बनाएं कि किस क्षणिक पुरुष से राग किया जा रहा है? स्वयं भी मिटने वाला, वह दूसरा भी मिटने वाला, तब तो वियोग होगा ही । राग करके अपने जीवन का अमूल्य समय व्यर्थ क्यों खोया जा रहा है और इससे उसे लाभ क्या मिलेगा? विवेकपूर्ण परिणमनों के द्वारा उस रागभाव को दूर करो, इसको प्रतिक्रमण कहते हैं । अब बतलावों कि प्रतिहरण करना अमृत है या विष है? निकृष्ट दशा वालों के लिए तो अमृत है, किन्तु ज्ञानवृत्ति का जिसने स्वाद लिया है, वह तो ज्ञानभाव ही रहना ठीक जानता है और ज्ञानमात्र रहने की वृत्ति करता है, उसके लिए तो प्रतिक्रमण विषकुम्भ है ।

धारणा का भाव—चौथी चीज बतलाई जा रही है धारणा । अपना चित्त स्थिर करना, इसका नाम धारणा है । यह बड़ा विकट चित्तजाल है । थोड़ा चित्त को ढीला किया तो लम्बे फिंक जाते हैं और थोड़ा दृढ़ करो तो स्वयं यह काबू में अपने में आ जाता है । जैसे ऊधमी घोड़े की लगाम ढीली करना खतरनाक है, इसी तरह इस मन की लगाम ढीली करना खतरनाक है । कोई सोचे कि थोड़ी देर ही तो राग किया जा रहा है तो पता नहीं कि उस थोड़ी देर में कैसी बुद्धि बन जाए । राग से बढ़कर मोह में आ जावे और मोह महान अंधेरा है, इसलिए चित्त को स्थिर करना, यही धारणा है ।

धारण का उद्यमन—मैया! चित्त स्थिर कैसे करना है? बाह्य सब धर्मनिमित्तों का आश्रय करके पंच नमस्कार का ध्यान करना, पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करना । अहो, यह शुद्ध अवस्था तो अरहंत सिद्ध प्रभु की है—जहां सर्वज्ञता का असीम फैलाव है दोष का रंच नाम नहीं है, शुद्ध ज्ञानपुञ्ज विकसित हुआ है । अहो, वैभव तो यही है । यह मैं हूँ, मुझमें भी यह स्वभाव है, ऐसे उस स्वरूप के स्मरण से अपने स्वभाव की समता का चिंतन करके एकदम **बना**, अपने चित्त को स्थिर करना और उस प्रतिमा का दर्शन करके मुद्रा को निरखकर बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से निरखना, चलती-फिरती नजर से मुद्रा को देख लेने से वहां कुछ न मिलेगा । एकटकी लगाकर कैसी उनकी नासाग्र ध्यान की मुद्रा है और ऐसा देखते हुए यह भूल जाना कि यह पाषाण की मूर्ति है, बल्कि यह भाव में आ जाए कि ओह, ऐसी मुद्रा, न पलक गिरती है, न पलक उठती है, ऐसा

प्रभु का स्वरूप है। उनको किसी प्रकार के राग से प्रयोजन नहीं, किसी बाह्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं। वे तो अपने आपके आत्मा के उपयोगी रहकर आनन्दरस से तृप्त हो रहे हैं, ऐसा ही प्रभु है। प्रतिमा का आश्रय लेकर अपनी विशुद्ध भावना बनाकर चित्त को स्थिर करना, इसका नाम है धारणा।

धारणा की हेयोपादेयता—अब यह बतलावों कि धारणा करना अमृत है या विष? हम लोगों के लिए और जनसाधारण के लिए अमृत है। न करें चित्त को स्थिर तो क्या करें? जो पाप में लगे हैं, उनके लिए धारणा अमृत है। मगर क्या सदा यह करता रहे? नहीं। यह विकल्प भी भूलें, केवल ज्ञाता दृष्टामात्र परिणमन रहे, यही उल्कुष अवस्था है। उस ज्ञाताद्रष्टा की स्थिति के मुकाबले यह हमारी धारणा विषकुम्भ बताई गई है। देखिए, गरीब भी हो कोई और न बन सके लखपति जैसा लखपति, तो भी लखपति की सारी बातों को समझ तो ले। उससे क्या होगा? यह गरीब चौकन्ना-सा न रहेगा, बेवकूफ न रहेगा भीतर में। जानकारी तो सब हो जाएगी। नहीं मिल पाती है ज्ञाताद्रष्टा की स्थिति तो कम से कम ज्ञाताद्रष्टा की स्थिति का जौहर तो जान ले कि वहाँ क्या आनन्दरस भरा है? कम से कम चौकन्ना तो न रहेगा, अंधेरे में तो न रहेगा। प्रभुमूर्ति के चरणों से आगे दालान में सिर रगड़ने-रगड़ने का ही तो प्रोग्राम न रहेगा। अब कुछ आगे की बात तो समझ में आएगी। किसके लिए हम बंधन करते हैं, किसके लिए भक्ति करते हैं? वह चित्त में होगा। यह देखो कि ज्ञानवृत्ति के आगे धारणा विषकुम्भ है।

निवृत्ति का भाव—पांचवां परिणाम बतला रहे हैं निवृत्ति। निवृत्ति मायने हट जाना। बहिरङ्ग जो विषय-कषाय आदिक अपने मन में आने वाले विकल्प हैं, उन विकल्पों से हट जाना, इसका नाम निवृत्ति है। जैसे कोई पुरुष किसी के चक्र में, राग में उलझ गया हो और किसी भी प्रकार उसका छुटकारा हो जाए, निवृत्ति हो जाए तो वह उस निवृत्ति में यद्यपि वह अकेला रह गया है, पर जितनी तृप्ति उसको निवृत्ति में मिलती है, उतनी तृप्ति प्रवृत्ति व संगति में नहीं मिलती। निवृत्ति करना भी होगा अपने चित्त को विकल्पों से। विकल्प आएँ तो उन्हें ज्ञान द्वारा दूर किया जाए। विकल्प ही हमारा बैरी है। जैसे पलास के पेड़ में लाख लग जाए तो यह लाख उस पलास के पेड़ का बैरी है, उस वृक्ष को मूल से नष्ट कर देता है। इसी प्रकार इस मुझ आत्मा में यह विकल्पों की लाख लग गई है, ये विकल्प इस प्रभु को बरबाद करने के लिए उतारूँ हैं, पर हे प्रभु! तु इन बैरियों का यथार्थ स्वरूप जानकर इनसे दूर हटने का यत्न कर। इनमें फंसकर फंसता चला जाएगा।

निवृत्ति का उपाय—जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष हो, उसे दुष्ट पुरुषों के द्वारा कुछ पीड़ा भी पहुंच जाये तो भी उनकी उपेक्षा करके अपने काम में लगते हैं, इसी प्रकार ये रागादिक, इनके द्वारा यह 'मैं' प्रभु सताया हुआ हूं, पर बुद्धिमानी इसमें है कि उन समस्त विकारों से हटकर अपने ज्ञानस्वरूप के जानने में लग जाए तो उसका उपाय सफल होगा। निवृत्ति इसी का नाम है। अब बतावो निवृत्ति अमृत है या विष? अमृतकुम्भ है। पर यह चीज सदा रहनी चाहिए क्या? कभी ज्ञान के परमआनन्द का अनुभव नहीं करना चाहिए क्या? इन रागादिकों के हटाने के श्रम में तो शुद्ध आनन्द नहीं आ रहा है। रागादिक हो रहे हैं और ज्ञानबल से हम विकल्पों को हटाने का यत्न करते हैं। यही तो एक श्रम है, पुरुषार्थ है। ठीक है, परन्तु उस श्रम में

परमआनन्द का अनुभव नहीं है। परमआनन्द का अनुभव ज्ञानवृत्ति में है। उस ज्ञानवृत्ति के मुकाबले यह निवृत्ति विषकुम्भ बतायी गयी है।

निन्दाभाव—छठवां भाव है निन्दा। अपने आपमें अपनी साक्षी लेकर दोषों को प्रकट करना, सो निन्दा है। कभी एकांत में आप ही भगवान बन जाइए, आप ही भक्त बन जाइए, भक्त बनकर भगवान को गिड़गिड़ाइए और भगवान बनकर अपने दोषों को निश्छल कहकर अपने ही आत्मस्वरूप का आलम्बन करने का यत्न कीजिए। इसी का नाम है निन्दा, यह है अमृतकुम्भ। आत्मसाक्षिपूर्वक आत्मनिन्दा करने से बहुत-सा बोझ हल्का हो जाता है। उसके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं, उसमें आगे दोष न करने के लिए प्रेरणा मिलती है। ऐसी अपने आपकी निन्दा करना अमृत है या विष है? अमृतकुम्भ है। इससे बहुत लाभ मिलता है, उत्कृष्ट स्थिति की ओर इसकी गति होती है, किन्तु अपने आपकी इस तरह की निन्दा करते रहना ही क्या अंतिम श्रेय है? अंतिम अर्थ है ज्ञाताद्रष्टा रहना। इस स्थिति के बिना आत्मनिन्दा विषकुम्भ हैं।

अज्ञानियों की प्रशंसापद्धति—भैया ! प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रशंसा चाहता है, पर शायद यह मनुष्य अकेले में अपनी प्रशंसा न चाहता होगा, न करता होगा। जहां दो-चार पुरुष दिख गए, मिल गए, वहाँ अपनी प्रशंसा किया करता है। होगा भी कोई ऐसा मूर्ख जो अपनी इस बाहरी करतूत पर, अपनी कला करतूत पर भी एकांत में बड़ा संतोष और तृसि का अनुभव करता होगा और अपने को बड़ा मानता होगा। मैंने बहुत ठीक किया, हूं भी ऐसा कर्ता। किसी को धोखा दिया, छल किया और छल से कुछ पैसों का लाभ लूटा तो एकांत में कितनी खुशी हुई? देखो, मैंने कितना चकमा उसको दिया कि वह लुट गया और मैंने अपना पेटा भर लिया। ऐसे ही लोग हैं जो इस करतूत पर तृसि, संतोष और बड़प्पन मानते हैं। बिना टिकिट के लोग रेलगाड़ी में सफर कर रहे हैं, दो चार टिकिट चेकर भी रेल में हैं, पर कभी नीचे उतर जाये, और कभी अपना सीना फुलाए हुए टिकिट चेकर के पास से निकल जाये, कभी संडास में घुस जाये, इन्हीं करतूतों से टिकिट चेकर को छका दिया, धोखा दिया तो सोसायटी में आकर कैसी अपनी बड़ाई करते हैं कि मैंने अपनी कला से टिकिट चेकर को यों छकाया। तो अपनी प्रवृत्तियों पर भी यह जीव अपना बड़प्पन समझता है।

निन्दाभाव के अमृतकुम्भपने व विषकुम्भपने का निर्णय—ऐसा ज्ञानीसंत बिरला ही है जो अपनी त्रुटियों पर अपने आपकी प्रभु के समक्ष निन्दा करता है। मैंने बड़ा बुरा किया। मेरा तो ज्ञानदर्शनमात्र ही स्वरूप है। मुझे तो मात्र जाननहार ही रहना था। किन्तु अमुक जीव पर मैंने राग का परिणाम किया, अमुक पर मैंने द्वेष परिणाम किया। और-और भी बड़ी पाप की बातें हो गयीं उन सबकी निन्दा करना यह तो ऊँची चीज है, अमृतकुम्भ है, किन्तु ज्ञानवृत्ति के समक्ष यह निन्दा का भाव भी विकल्प है और विषकुम्भ कहा गया है।

गर्हभाव—७ वां परिणाम है गर्हा। गुरु की साक्षी में अपना दोष प्रकट करना सो गर्हा है, यह बड़ा ऊँचा तप है। अपने मुख से अपनी यथार्थ गलती कोई बिरला ज्ञानी संत ही कह सकता है। मुझे परवाह नहीं, मुझे इस दुनिया में अपनी इज्जत नहीं रखनी है, पोजीशन नहीं बनानी।। अरे यह सारा झग्गेला मायामय है। यहाँ कोई किसी का अधिकारी नहीं है, कोई किसी की खबर ले सकने वाला नहीं है। सभी जीव अपने आप पाप के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं। ऐसे इस असाधारण मायामय जगत में मुझे अपनी क्या नाक

रखना है, ऐसा ज्ञानी पुरुष ही ऐसा साहस कर सकता है कि अपने गुरु की साक्षी में अपने दोषों को निश्छल होकर बालकों की तरह आगे पीछे क्या परिणाम होगा, कुछ ध्यान न लाकर अपना कर्तव्य जानकर प्रकट करता है जिसे कहते हैं गर्हा।

गर्हा से दोषशुद्धि—भैया ! गर्हा से दोषों की बड़ी शुद्धि होती है, गुणों में बड़ी प्रेरणा होती है, सारा बोझ हल्का हो जाता है। यह यहाँ धर्म का विशेषरूप से अंग माना गया है। बतलावो ऐसी गर्हा करना विषकुम्भ है या अमृतकुम्भ है ? तो साधना की दशा में तो अमृतकुम्भ है किन्तु ज्ञानवृत्ति रूप जो आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था है उस अवस्था के लिए तो उसके मुकाबले में यह गर्हारूप वृत्ति विषकुम्भ कही गयी है। यहाँ यह देखना है कि हमारी किस स्थिति में जाने पर उत्कृष्टता मानी जायेगी, यह धार्मिक जो हमारी प्रवृत्ति का रूप है यह कृतकृत्यता का रूप नहीं है। जो लोग इन धर्मक्रियाओं को करते हुए निहीत समझ लेते हैं, अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं—आज लो पूजन कर लिया कृतकृत्य हो गया। जाप देकर कृतार्थ हो गए। अरे ये साधना की दशाएँ हैं, यह कृत्यार्थता की व्यवस्था नहीं है। कृतार्थ की अवस्था में तो ये सब वृत्तियां समर्पित हो जाती हैं।

चरमविकास स्वैकरसता—पानी में नमक के बोरे डाल दो, जब तक नमक की बोरी घुलती नहीं है उस समय तक समझ लो कि द्विविधा अवस्था है, खूब सुख जाता है तो डली का पता नहीं रहता है वह समझलो कि सुख की एकरस अवस्था है। इसी तरह हमारा उपयोग डली के माफिक जुदा-जुदासा फिरता रहा वह हमारी द्विविधा की अवस्था है। जब यह उपयोग कुछ एक ओरसा नजर न आये, किस जगह पड़ा है, किस जगह लग रहा है, क्या कर रहा है, यह भी जब जहाँ रहता है तब ये समस्त ज्ञान मग्न हो जाते हैं, एकरस हो जाते हैं वह है ज्ञान वृत्ति की अवस्था। उसके मुकाबिले यह गर्हा का उपक्रम विषकुम्भ कहा गया है।

शुद्धि का भाव—अब ८ वां परिणाम है शुद्धि। दोष हो जाने पर प्रायश्चित ग्रहण करके अपनी विशुद्धि कर लेना इसका नाम शुद्धि है। कोई दोष हो गया, गुरु से निवेदन किया, गुरु ने जो दण्ड बताया उस दण्ड का पालन किया, ऐसी वृत्ति करने से परिणामों में निर्मलता होती है किए हुए दोषों का खेदरूप जो दुःख है, शल्य है वह दूर हो जाता है फिर मोक्षमार्ग में इसका वेग पूर्वक गमन होता है, ऐसी शुद्धि करना अमृतकुम्भ है। लेकिन ज्ञानवृत्ति के समक्ष अध्यात्मयोग के मुकाबले यह शुद्धिकरण विषकुम्भ बताया गया।

शुभाष्टक—ये ८ प्रकार के विकल्प शुभोपयोग हैं। ये सब यद्यपि सविकल्प अवस्था में हैं, सराग चारित्र अवस्था में हैं। रागादिक विषय-कषायों में परिणति हुई ना, इस शुभोपयोग के मुकाबले ये ८ प्रकार के धर्म के अंग अमृतकुण्ड नहीं हैं क्या ? हैं। तो भी निर्विकल्प अवस्था जो तीसरी भूमि है, जिस निर्विकल्प अवस्था में प्रतिक्रमण का अभाव है, प्रतिसरण, निन्दा, गर्हा आदि आठ तत्त्वों का अभाव है, ऐसे तृतीय उत्कृष्ट पद की अपेक्षा निहारें तो ये ८ विषकुम्भ कहे गए हैं।

तीन आत्मभूमियां—प्रथम भूमि है अज्ञानी जनों की, द्वितीय भूमि है साधक पुरुषों की ज्ञानी पुरुषों की और तृतीय भूमि है ज्ञानधनोपयोगी रहने वाले आत्माओं की। तो प्रतिक्रमण पहिली अवस्था में भी नहीं है

और तृतीय अवस्था में भी नहीं है लेकिन पहिली अवस्था में प्रतिक्रमण न करना दोष है, विषकुम्भ है और तृतीय अवस्था में प्रतिक्रमण न होना अमृतकुम्भ है। कैसी है वह तृतीय अवस्था जहाँ राग, द्वेष, मोह, ख्याति पूजा, लाभ इनका अभाव हो गया, केवल शुद्ध ज्ञानज्योति के अनुभव में रहने से स्वाधीन, अनुपम, आत्मीय आनन्द प्रकट हो रहा है, जहाँ किसी प्रकार के भोगों की इच्छा नहीं है, न देखे हुए भोगों का ख्याल है, न सुने हुए भोगों का ख्याल है, न अनुभव किए हुए भोगों का ख्याल है, ऐसे निदान शब्द से रहित वह तृतीय ज्ञानवृत्ति की अवस्था है। परद्रव्यों का जहाँ रंच आलम्बन नहीं है ऐसी विभावपरिणामों से रहित वह तृतीय अवस्था है। जहाँ चिदानन्द स्वरूप एकस्वभावी विशुद्ध आत्मा के आलम्बन से भरी-पूरी अवस्था है ऐसी निर्विकल्प शुद्धोपयोग रूप निश्चय प्रतिक्रमण की अवस्था है। जो ज्ञानीजनों के द्वारा ही आश्रित है ऐसे तृतीय भूमि की अपेक्षा वीतराग चारित्र में स्थित पुरुषों के लिए ये प्रतिक्रमण आदिक विषकुम्भ हैं।

मध्यपद की सापेक्षता—यहाँ स्थूल रूप से यह जान लेना कि प्रतिक्रमण न करना दो तरह का है। एक ज्ञानी जनों का अप्रतिक्रमण और एक अज्ञानीजनों का अप्रतिक्रमण। अज्ञानी जनों का अप्रतिक्रमण विषय कथाय के परिणमन रूप होता है, वह तो विषकुम्भ है। और ज्ञानीजनों का अप्रतिक्रमण अर्थात् व्यवहार धर्म की पकड़ में न रहना किन्तु स्वयं धर्मरूप हो जाना, शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व आचरणरूप रहना, सुरक्षित रहना यह निश्चयप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है। **नाम अनुप्रास में अमृतकुम्भ में तारीय अप्रतिक्रमण** कह दिया है, पर इसका नाम है निश्चय प्रतिक्रमण। यह निश्चय प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है। तो ऐसी भावना रखो कि सर्वविकल्पों से हटकर मेरी केवल ज्ञानवृत्ति हो।

सुबोध के लिये नामान्तर—तीन दशाएं होती हैं—अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। अच्छा, यों न बोलो—यों कहो पहिला अप्रतिक्रमण, दूसरा व्यवहारप्रतिक्रमण और तीसरा निश्चयप्रतिक्रमण, यह भाषा मर्म समझने में शुद्ध रहेगी। ज्ञानीजनों के वर्णन में तो ज्ञानात्मक ढंग का वही वर्णन था अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। पर सुबोध के लिए इस प्रकार रखिए अप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रतिक्रमण और निश्चयप्रतिक्रमण। अर्थ खुलासा बतायेंगे इसलिए इस अनुत्साह में न बैठें कि क्या कहा जा रहा है, यह तो ऊंची चर्चा है। चित्त देने से सब समझ में आता है और चित्त न देने से दाल रोटी बनाने की तरकीब भी समझ में नहीं आती।

एक जिज्ञासा—अप्रतिक्रमण का अर्थ है अपने दोषों को दूर न करना कुछ कल्याण के लिए उत्साह न जगना, रागद्वेष में पगे रहना यही है अप्रतिक्रमण। और जब अज्ञान मिटता है, सम्यक्त्व जगता है तो यह जीव व्यवहारप्रतिक्रमण भी करता है। गुरुवों से निवेदन करना, जो दण्ड बताया जाए, उसको ग्रहण करना, यह है व्यवहार प्रतिक्रमण, पर निश्चयप्रतिक्रमण की वृष्टि नहीं है। आज यह बात समझ में आएगी। जैसे कि कुछ भाइयों को यह जिज्ञासा बन गयी कि जब निश्चय ज्ञानवृत्ति में पहुंच गया तो प्रतिक्रमण आदिक का उसे ख्याल नहीं है। विषकुम्भ क्यों कहा जाता है? आज उस विषय को स्पष्ट कर रहे हैं और बड़ी दिशा मिलेगी तुम्हें इसमें।

शुद्धिसापेक्षता बिना शुभ की स्वकार्यकारिता—जिस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का परिचय नहीं और

मोक्षमार्ग के लिए अन्तर में परिणमन क्या होता है, इस बात का जिन्हें बोध नहीं है ऐसे ज्ञानीजन यदि व्यवहार प्रतिक्रमण भी करें, दोष लगें तो उसका प्रायश्चित्त करें, मूलगुणों का भी खूब पालन करें, तिस पर भी प्रतिक्रमण का और इन व्रत, संयमों का प्रयोजन तो मोक्षमार्ग में बढ़ने का था, किन्तु वह तो एक सूत भी नहीं बढ़ सका, क्योंकि मोक्षमार्ग होता है अपने शुद्ध आत्मतत्त्व के श्रद्धान्, ज्ञान, आचरणरूप चलने से । व्यवहार में ये सब प्रतिक्रमण आदिक करें तो उससे किंश्चित् पुण्यलाभ होता हो, पर मोक्षमार्ग नहीं मिलता । सो प्रतिक्रमण के प्रयोजन का विपक्ष जो संसार-बंधन है, वह तो बना ही रहा, इसलिए अज्ञानीजनों का व्यवहार प्रतिक्रमण भी विषकुम्भ है, यहाँ यह बताया गया है।

परमार्थापराध के विषकुम्भता—भैया ! यही सब व्यवहारप्रतिक्रमण शुद्ध दृष्टि को लिए हुए पुरुषों में होता तो यह अमृतकुम्भ है । इसी बात को अमृतचन्द्रसूरि ने अपने **आत्माध्यान** में कहा है कि जो अज्ञानीजनों में पाये जाने वाले अप्रतिक्रमण आदिक हैं पापबुद्धि, कषायभाव उससे शुद्ध आत्मा की सिद्धि का अभाव है, चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि उनके नहीं है, सो स्वयं ही अपराधी है । पहिले बताया था कि शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि नहीं रहना; सो सब अपराध है । अब यह लक्षण घटाते जाएँ, यह सब व्यवहारप्रवर्तन परमार्थदृष्टि से अपराध कहा गया है ।

कल्पना बिना क्लेश की अनुत्पत्ति—भैया ! जितना भी जीवों को क्लेश है; सब अपने-अपने अपराध के कारण क्लेश है । कोई-सा भी क्लेश ऐसा बताओ कि खुद का अपराध न हो और क्लेश होता हो । मूल में यही अपराध है कि हम अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभावरूप अपने को लक्ष्य में नहीं ले रहे हैं । कोई पुरुष गाली देता है, एक नहीं वरन् ५० आदमी खड़े होकर एक स्वर से गाना बनाकर गालियां दे और यह पुरुष जिसको लक्ष्य में लेकर गालियां दे रहे हैं, अपने को सबसे न्यारा शुद्ध ज्ञानस्वरूप अनुभव में ले रहा हो तो उसका क्या बिगड़ किया उन पचासों पुरुषों ने ? क्यों दुःखी नहीं हुआ यह ? यह अपराध ही नहीं कर रहा है, जो अपराध करे सो दुःखी हो ।

डबल अपराध—अपराध तो खुद की कल्पना से ही होता है । अभी कल्पना में यह आए कि अमुक ने देखो ऐसा अनहोना काम किया, सो हमें उस काम से कष्ट हो रहा है, यह है उसका डबल अपराध । एक तो खुद के अपराध से दुःखी हो रहा है और दूसरे मान रहा है कि इसने यों किया है, इसलिए मुझे क्लेश हुआ । इसे कहते हैं भ्रम । **राग-द्वेष सिंगल (Single)** अपराध है और भ्रम करना **डबल (double)** अपराध है । यह जगत का प्राणी डबल अपराधी हो रहा है । अपने स्वरूप में रमता हुआ कोई पुरुष किसी भी दूसरे के यत्न से कभी भी दुःखी हो सकता हो तो अंदाज में लावो । जो दुःखी हुआ, वह अपने ज्ञान से चिंगा और दुःखी हुआ ।

अज्ञानगति का वेग—किसी के घर इष्ट का वियोग हो गया हो और भले ही उससे अनुराग हो, आसक्ति हो तो वह पुरुष या महिलाएं मुश्किल से रात को सो पाते हैं और जब नींद खुलती है तो नींद के खुलते ही याद आती है और रोना शुरू होता है । पड़ोसी लोग सुनते हैं । पहिले जरा रोने की स्पीड हल्की होती है, थोड़ी देर बाद रोने की स्पीड तेज हो जाती है और ऐसी तेज हो जाती है कि सुनने वालों को भी

रोना आ जाता है। यह क्या हो रहा है? जैसे-जैसे अपने ज्ञान से दूर होकर बाहर में भटककर अज्ञान में लिप्स हो रहे हैं, वैसे ही वैसे ये क्लेश बढ़ रहे हैं, कोई दूसरा क्लेश देने नहीं आता है।

वियुक्त और शिष्ट में हानि लाभ का योग—अच्छा भैया! तुम्हीं बतावो कि दो भाई हैं, दो मित्र हैं, उनमें से एक मित्र मर गया दूसरा मित्र जिन्दा है। अब यह बतलावो कि मरने वाला टोटे में रहा या जीने वाला टोटे में रहा? यह निर्णय दो। मरने वाले को क्या परवाह है? जिस जन्म में जाता है नया शरीर पाता है, नई-नई बातें, नया रंग, नया ढंग पाएगा। अब जो जिंदा बच गए हैं, वे रात्रि को सवा दस बजे तक रोवेंगे और सुबह ३॥ बजे से रोवेंगे। दिन में जो मिलने वाले आएंगे, तब रोवेंगे। जब भी स्मरण किया तभी रोवेंगे। उस मरने वाले को तो खबर ही नहीं रहती कि हमारा भाई कहां होगा, हमारे मित्रजन कहां होंगे? यह कुछ उसको खबर नहीं रहती है। जो अपराध करता है, वही दुःखी होता है। अपराध यह है कि अपने स्वभाव की दृष्टि से चिंगकर पर की ओर आकर्षण है।

हर्ष और विषाद में आकुलता—भैया! हर्ष और विषाद दो चीजें मानी जाती हैं इस लोक में। विषाद में आकुलता होती है कि नहीं होती है और हर्ष में आकुलता है या अनाकुलता? आकुलता बिना हर्ष भी नहीं किया जा सकता और विषाद भी आकुलता बिना नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष देख लो। जैसे किसी बात पर तेज हँसी आ जाए तो सांस रुक जाती है, पेट भी दर्द करने लग जाता है, दुःख हो जाता है। कोईसा भी काम बिना आकुलता के कोई कर सकता है क्या? खूब बढ़िया आराम के साधन मिले हैं, खूब रसीले भोजन करने का रोज-रोज समागम मिला है। क्या किसी को शांत मुद्रा के साथ भोजन करते हुए देखा है? आकुलता रंच न हो और कौर सटकता जाए तो यह हो सकता है क्या? अरे, उसको तो सटकने की आकुलता, कौर उठाने की आकुलता है। वह गणित लगाता रहता है कि इस कौर के बाद किस कौर पर हाथ धरेंगे?

भोगों की आकुलतामयता—भैया! किसी भी प्रकार का हर्ष हो, देखा गया है कि आकुलता के बिना वह हर्ष नहीं होता। पंचेन्द्रिय के विषयों के भोगों में से कोई-सा भी भोग आकुलता के बिना नहीं भोगा जा सकता है। पहिले आकुलता है, भोगते समय आकुलता है और भोगने के बाद आकुलता है। समस्त भोग खेदमय है। खेदमय किसे कहते हैं कि पहिले खेद, वर्तमान में खेद, पीछे खेद। जब तक भी भोगों का सम्बन्ध मन से, वचन से, काय से है, तब तक उसके खेद ही खेद है। यह विषयकषायों की बात।

शुभ और अशुभभाव में आकुलता का गर्भ—अब जरा व्यवहारिक प्रतिक्रिमण पर आइए। वह था अशुभ भाव और यह है शुभ भाव, पर आकुलता बिना, क्षोभ बिना, तकलीफ बिना कोई किसी को गुरु बनाता है? कोई अपने दोष किसी गुरु को बताता है? गुरुजन जो प्रायश्चित्त कहेंगे। आकुलता बिना, क्षोभ बिना उस दण्ड को भी ग्रहण क्या कोई करते हैं? अब यह बात दूसरी है कि इसकी आकुलता और किस्म की है और अज्ञानीजनों की आकुलता और किस्म की है। उस व्यवहारप्रतिक्रिमण में लगने वाले पुरुष के तो निश्चयप्रतिक्रिमण ज्ञान का ज्ञान में रम जाना है। इस प्रकार के प्रतिक्रिमण का लक्ष्य हो, दृष्टि हो तो इस निश्चयप्रतिक्रिमण की नजर के प्रसाद से व्यवहारप्रतिक्रिमण अमृतकुम्भ बनता है। नहीं तो जैसे घर का काम

किया, वैसे ही लोकपूजा का काम किया। यदि आत्मा का लक्ष्य न समझ में आए तो फर्क थोड़ा है, पर मूल में फर्क नहीं है।

परिणामों का परिणाम—एक कथानक है कि दो भैया थे, एक बड़ा और एक छोटा। बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा कि तुम पूजा कर आवो और मैं रसोई के जलाने के लिए जंगल से लकड़ी तोड़ लाऊं। छोटा गया पूजा में और बड़ा गया लकड़ी बीनने। लकड़ी बीनने वाला भाई सोच रहा है कि मैं कहा झंझटों में फंस गया, मेरा भाई तो भगवान के सामने आरती कर रहा होगा, खूब पूजा कर रहा होगा, भगवान की भक्ति में लीन हो रहा होगा। यह तो सोच रहा है लकड़ी बीनने वाला भाई और पूजा में खड़ा हुआ भाई सोच रहा है कि हमको यहाँ कहाँ ढकेल दिया। वह भाई तो जामुन के पेड़ पर चढ़ा होगा, जामुन खा रहा होगा, आम खा रहा होगा खूब मजा कर रहा होगा, फिल्मी गाने में मस्त हो रहा होगा, यह सोच रहा है पूजा वाला भाई! अब भावों की ओर से बतावो कि पुण्यबंध किसके हो रहा है और पापबंध किसके हो रहा है? पुण्यबंध तो वहाँ लकड़ी बीनने वाले के हो रहा है।

तार्तीय की भूमि—यहाँ इससे भी और ऊँची बात कही जा रही है कि ये जो व्यवहार प्रतिक्रमण आदिक नियम संकल्प आदिक हैं यदि शुद्ध दृष्टि सहित है तो यही बनता है अमृत और शुद्धदृष्टि बिना है तो जैसे अज्ञान दशा विषकुम्भ है वैसे ही अब भी यह दशा विषकुम्भ है क्योंकि अन्तर में उसके मोक्ष में लगने की बात नहीं आ पाती है। आत्मा के सहजस्वरूप को बताने वाले जैन दर्शन का आप लोगों ने समागम पाया, श्रावक कुल पाया, जहाँ घर के बाहर में चलने में व्यापार में सर्वत्र अहिंसा का वातावरण रहता हो ऐसे कुल में जन्म पाया और जहाँ आत्मा के सहज सत्य स्वरूप पर पहुंचाने का निराला ढंग बताने वाला उपदेश पाया हो, ऐसे दुर्लभ समागम को प्राप्त कर इतना तो मन में उत्साह बनाओ कि ये बाहरी चीजें मायारूप हैं, ये धन वैभव जगजाल है, झंझट है, जड़ है, इनके लिए हम जिन्दा नहीं हैं। ये तो चीजें जैसे आ जायें उसके ही अनुकूल व्यवस्था बना ले।

अहित की अपेक्षा का संकेत—भैया! हम अपने मन चाहे विकल्पों के द्वारा धन संचय न करें किन्तु जो उदयानुसार आ गया उसके अनुसार हम अपनी व्यवस्था बनाकर उस चिंता से मुक्त हो जायें। यह दुर्लभ जीवन चिंता में ही यदि बिता दिया तो बेकार जीवन गया। किसी अन्य चिंता में जीवन बिताया तो व्यर्थ गया। ये कुछ नहीं हैं। बढ़िया कपड़े पहिनने को मिलें तो क्या, न मिलें तो क्या? पचासों कपड़े रख लिये तो क्या, और दो ही धोतियों से जिन्दगी निकाल दिया तो क्या? बल्कि बढ़िया कपड़े पहिनने से नुकसान है, अपनी साधना रखने में भी बढ़िया कपड़े हानिकारक हैं। राग के विकल्प, घमंड के विकल्प, क्षोभ के विकल्प और जरा-जरासी बातों में ऐंठ जाने की आदत बनाना ये उसकी एवज में आ जाएंगे। सो यहाँ तो गुजारा करना है।

जीवन का सत् लक्ष्य—भैया! काम तो यह है कि आत्मदृष्टि करके धर्मपालन करके सदा के लिए संकटों से छूट जाएं, त्रस और स्थावरों में जन्म लेने और दुःख भोगते रहने के संकटों से छूट जायें, उसके लिए हम आप पैदा हुए हैं। ऐसा अन्तरङ्ग में श्रद्धान रखो। जिनका विकल्प कर करके हम परेशान हो रहे हैं

वे जीव एक भी मेरे कल्याण में, हित में, सुख में शांति में साथी न होंगे । अतः जीवन का ध्येय दुनिया की निगाह में अपनी पोजीशन रखना यह न होना चाहिए । पोजीशन बनाने से बनती भी नहीं है । उस पोजीशन न चाहने के भाव वाले पुरुष में ऐसा महत्व होता है कि स्वयं उसकी पोजीशन बनती चली जाती है । तो इस कथन का प्रयोजन यह है अपराध रहित होकर यदि व्रत, संयम, नियम, प्रतिक्रमण आदिक किए जाएं तो वे अमृत हैं, भले हैं और अपराध सहित इन व्यावहारिक **धर्मों** को करते चले जाएं तो वे पूर्ववत् विषकुम्भ हैं ।

निमित्त-नैमित्तिकता—कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह मंदिर में बैठा है इसलिए न लगो । अलंकार से कह रहे हैं परसोनीफिकेशन है । कोई कर्म कहने आता नहीं । कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह आसन मारकर आंखें बन्द करके माला फेर रहा है, इसको हम न बांधे । कर्मों का और अशुद्ध परिणामों का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है । किसी भी जगह हो, यदि परिणाम अशुद्ध है तो कर्म बंध जायेंगे । जिन्हें कर्मबंधन न चाहिए, संसार के संकट न चाहिए उन्हें क्या करना है ? तो मोटे शब्दों में कहो कि रही सही ख्याल में आई हुई जो बातें उठती है उन्हें हम धूल में न मिला दें, मेरी कुछ झज्जत नहीं है, मुझे कोई लोग जानते ही नहीं हैं और जानते हैं कोई तो वे अपने में रम जाते हैं उसका लक्ष्य ही नहीं रखते हैं ।

महासंकट का मूल पर्यायबुद्धि—सो भैया ! एक यह निर्णय कर लो अपने जीवन को सुखी रखने के लिए कि हम दुःखी हैं तो अपन ने ही अपराध किया सो दुःखी हैं । प्रथम अपराध यह है कि हम शरीर को मान रहे हैं कि यह मैं हूं । इस अपराध की बुनियाद पर अब पचासों अपराध हो रहे हैं । नातेदारी मान लें—यह मेरा अमुक है, यह मेरा अमुक है और देखो तो गजब कि नातेदारी का क्या अर्थ है—न मायने नहीं है, मायने तुम्हारे नहीं है तुम्हारे इस बात का नाम है नातेदारी । तो अर्थ तो यह है और उसी शब्द द्वारा आकर्षण हो रहा है पर की ओर । यह मेरा कुछ है । सो प्रथम तो शरीर को माना कि यह मैं हूं, इस अपराध की बुनियाद पर विषय भोगने के अपराध, कषाय करने के अपराध, पर को अपना मानने के अपराध ये सारे अपराध हो रहे हैं । इन सब अपराधों को मिटाना है एक साथ तो एक ही उपाय है—ज्ञानघन, आनन्दमय एक आत्मस्वभाव में अपने ज्ञान को जगा दो तो सारे अपराध एक साथ विघ्स्त हो सकते हैं ।

संकटविनाश का उपाय—जमुना नदी में चोंच उठाए हुए कछुवे पर पानी में पचासों पक्षी एक साथ आक्रमण करें तो उन पचासों के आक्रमण को विफल कर देने का कछुवे के पास एक ही उपाय है । पांच अंगुल नीचे ही अपनी चोंच पानी में कर ले तो क्या करेंगे सारे पक्षी । पानी से बाहर चोंच उठाना है तो पचासों पक्षी सताते हैं । पानी में चोंच डुबा ले तो कोई भी पक्षी उसे नहीं सता सकता है । इसी तरह ज्ञानसमुद्र में से हम, अपनी उपयोग चोंच को बाहर निकालते हैं तो पचासों सताने के निमित्त बन जाते हैं और केवल उस उपयोग को थोड़ा ही अन्तर में डुबा लें, पर का ख्याल न रहे तो सारे आक्रमण विफल हो जायेंगे ।

संयमविषयक त्रिपदी—इस अप्रतिक्रमण आदिक के प्रकरण को जानने के लिए एक नया दृष्टांत लें— और वह दृष्टांत लें संयम का । संयम के सम्बन्ध में तीन स्थितियां हैं—अर्धम, व्यवहारसंयम और निश्चयसंयम । असंयम में संयम नहीं है और निश्चयसंयम में व्यवहारसंयम नहीं है, इसलिए निश्चयसंयम का भी नाम

असंयम रख लिया, तो असंयम, संयम और असंयम। पर निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों का असंयम नाम धरने में थोड़ा कुछ संशय भी हो सकता है इसलिए यह नाम रखो—असंयम, व्यवहारसंयम और निश्चयसंयम। जो अज्ञानी जनों में पाया जाने वाला असंयम है वह शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि नहीं करा पाता है इसलिए वह असंयम स्वयं अपराध है। सो विषकुम्भ है ही, याने दया न पालना, ब्रत न करना, ५ पापों में रत रहना, इन्द्रियों के विषयों के भोगने में लीन रहना यह सब असंयम कहलाता है। तो यह सब असंयम विषकुम्भ है, विष भरा घड़ा है। उसका तो विचार ही क्या करना है? उसे तो सभी लोग स्पष्ट जानते हैं कि अज्ञानीजनों का असंयम विष है।

निश्चय संयमशून्य द्रव्यसंयम की विषकुम्भता—जो द्रव्यरूप संयम है व्यवहारसंयम, जीवों की दया करना, लोगों का उपकार करना, अर्थात् बाह्यवस्तु के त्याग में लगना उपवास ब्रत में लगना, यह जो व्यवहारसंयम है सो यह व्यवहारसंयम भी समस्त अपराध विष को दोषों को दूर करने में समर्थ है। इस कारण अमृतकुम्भ है। भला है लेकिन असंयम और व्यवहारसंयम इन दोनों से विलक्षण जो निश्चयसंयम है उस तीसरी भूमि को जो नहीं देख पा रहे, नहीं छू पा रहे उनका वह व्यवहारसंयम अपना काम करने में समर्थ नहीं है। आत्मा को शांति की ओर ले जाने तक में समर्थ नहीं है, अतः निश्चयसंयमशून्य द्रव्यसंयम भी विषकुम्भ है।

स्वभावधारणा बिना विडम्बनायें—देखा होगा भैया! अनेक को कि ब्रत, तप, आदि करते हुए भी गुस्सा भरी रहती है और जरा-सी बात में टेढ़े टाढ़े बोलने लगते हैं। उसका कारण क्या है उनका वह संयमपालन विधिवत् नहीं है, क्योंकि वहाँ निश्चय संयम की दृष्टि भी नहीं है। शांति कहाँ से हो? पूजा भी करते, विधान भी करते। और कहीं कहते-कहते गुस्सा आ जाए किसी बात पर तो गुस्सा आ जाना कोई संयम की चीज है क्या? जहाँ कषाय जगता हो, उसे तो अपन संयम नहीं कहते हैं। उसके तो विष भरा है, अपराध अन्तर में भरा है, इसे अपराध कहो, विष कहो, दोष कहो, एक ही अर्थ है। जो आत्मा के शांतस्वभाव को, ज्ञानानन्दस्वरूप को नहीं पहिचानते और मुझे रागद्वेष से दूर रहकर इस ज्ञानानन्दस्वरूप में लगना है—ऐसी जिसकी बुद्धि नहीं है, दृष्टि नहीं है, वह व्यवहार में संयम का कठिन तप भी करता रहे तो भी अन्तर में विषरूप है, परदृष्टिरूप है, उल्झनरूप है।

स्वभावरति की स्वयं सिद्धिरूपता—सो जो इस तृतीय भूमि को नहीं देखता, शुद्ध ज्ञानवृत्ति को नहीं पहिचानता, ऐसा पुरुष अपने कार्यों के करने में असमर्थ है और उल्टा विपक्षरूप कार्य होता है, इसलिए वह व्यवहारसंयम विषकुम्भ है, जो निश्चयसंयम का स्पर्श नहीं करता। वह व्यवहारसंयम चूँकि आत्मानुभव नहीं करा सकता, इस कारण वह भी दोष है। मगर निश्चयसंयम, निश्चयप्रतिक्रियण आदिक परिणामरूप तीसरी भूमि स्वयं शुद्ध आत्मा की सिद्धिरूप है और उन समस्त अपराधरूप विषदोषों को नष्ट करने में समर्थ सर्वक्षण है, इसलिए वह तृतीय भूमि निश्चयवृत्ति स्वयं अमृतकुम्भ है और उस निश्चयवृत्ति के कारण, उस ज्ञानानन्दस्वभाव की उपासना के कारण यह व्यवहारसंयम, व्यवहारप्रतिक्रियण ये भी अमृतकुम्भ कहलाते हैं। निश्चय का सम्बन्ध पाकर व्यवहारसंयम में भी सामर्थ्य है, सो द्रव्यसंयम भी अमृतकुम्भ है और निश्चय का

सम्बन्ध न रहे तो व्यवहार जैसे और है, वैसे धर्म का व्यवहार है ।

अपने प्रभु पर अन्याय—भैया ! यह बात इसमें सिद्ध की है कि यह जीव ज्ञानानन्दमात्र रहने की परिणति से ही निरपराध होता है । जहां ज्ञानस्वभाव से चिंगकर बाह्यपदार्थों को उपयोग में लेकर राग किया, द्वेष किया कि अपराध हो गया । अपने ही घर के बच्चों से कोई प्रेम से राग करे, उनको ही खिलाकर मस्त रहे और वह कहे कि हम अपना ही तो काम कर रहे हैं, किसी दूसरे को तो हम नहीं सता रहे हैं, हम तो बेकसूर होंगे । अरे ! तुम बेकसूर नहीं हो, तुम्हारा लड़का है कहां ? तुम तो भ्रम कर रहे हो कि यह हमारा है । बड़ा तीव्र भ्रम यह है कि जो ऐसी आत्मीयता जगती है कि आ गए मेरे बेटे, पोते । अभी दूसरे बालक की टांग टूट जाए तो खेद न होगा और अपने बच्चे का जरा किवाड़ में ही हाथ फँस जाए तो दया आ जाएगी । तो यह दया है क्या ? यह तो मोह है । दया तो उसे कहते हैं कि मोह बिना ज्ञानप्रकाश होकर भी करुणाभाव उत्पन्न हो । दया होती तो सब पर एकसी बरसती । जैसे घर के बच्चों पर, वैसे अन्य बच्चों पर और दया का तो यह बहाना करते और मोह को पुष्ट करते ।

अपने प्रभु पर सभ्य शब्दों में अन्याय—जैसे बहुत से लोग धर्म की बात कहते हैं और उनसे कहो कि तुम रिटायर हो, निवृत्त हो, अब तुम अपने ही ज्ञान-ध्यान में रहो, अब व्यापार छोड़ दो बहुत हो गया संतोष करो, अल्प आरम्भ करो, अल्प परिग्रह करो, धर्मकार्य में लगो, कभी घर-द्वार छोड़कर दो चार महीने सत्संग में रहो । उत्तर क्या मिलता है कि हमारा मन तो बहुत करता है, पर छोटे बच्चे हैं, छोटे पोते हैं, उन पर दया आती है । हम चले जायेंगे तो इनकी रक्षा कैसे होगी ? सो भैया । दया नहीं आती है, दया का बहाना करते हैं और मोह को पुष्ट करते हैं । यदि तनिक अच्छे पढ़े-लिखे हुए मोही जीव तो कहते हैं कि साहब, चारित्रमोह का उदय है इसलिए घर में रहना पड़ता है । तृतीय भूमि जब तक नहीं दिखती है, रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपना तत्त्व जब तक दृष्टि में नहीं आता है, तब उस आनन्द का अनुभव नहीं हो पाता, तब तक बाहर में व्यवहारसंयम आदिक भी हों तो भी शांति नहीं मिलती है । शांति का सम्बन्ध ज्ञानवृत्ति से है, हाथ-पैर चलाने में नहीं है ।

वास्तविक स्वास्थ्य—जैसे किसी के १०५ डिग्री बुखार हो और बुखार रह जाए १०२ डिग्री तो बतलाता है कि अब हमारा स्वास्थ्य ठीक है । वस्तुतः ठीक नहीं है अभी १०२ डिग्री बुखार है । इसी तरह जो पाप में मन, वचन, काय लगा रहे थे और उससे बड़ी विहळता मच रही थी, क्लेश हो रहा था, सो अब कुछ विवेक जगा, सो पाप की प्रवृत्ति छोड़कर धर्मचर्चा, पूजा, भक्ति, दया, धर्म, वात्सल्य आदि प्रवृत्तियों में मन, वचन, काय को लगाया था । सो उस महाव्याधि के सम्बन्धी अशुभोपयोग के मुकाबले ये हमारे सब कर्तव्य हैं, धर्म है, पर जहां वस्तुस्वरूप का विचार किया जाये तो यह भी अपराध है । वह महा अपराध है, यह अल्प अपराध है । ज्ञानी जीव के इस अपराध से भी ऊपर दृष्टि शुद्ध ज्ञानवृत्ति की रहती है । सो निश्चयसंयम का लक्ष्य हो तो व्यवहारसंयम अमृतकुम्भ है । निश्चयसंयम का कुछ पता न हो, लक्ष्य ही न हो, बोध ही न हो तो यह व्यवहारसंयम भी असंयमवत् न सही पूरी तौर से न सही तो भी अपराधरूप है और इसलिये इस द्रव्यप्रतिक्रमण आदिक को विषकुम्भ कहा है ।

अपराध की अशान्त प्रकृति—भैया ! कब है यह द्रव्यप्रतिक्रमण विषकुम्भ ? जबकि निश्चयप्रतिक्रमण की खबर न हो । इस कारण यही निश्चय करना कि निश्चयप्रतिक्रमण न हो तो व्यवहारप्रतिक्रमण भी अपराध ही है । भगवान तो ज्ञानस्वरूप है । जो भगवान को ज्ञानपुञ्ज के रूप में नहीं निहारता और ऐसे हाथ पैर वाला है, ऐसे रूप रंग वाला है, ऐसा रहने चलने वाला है, अथवा ऐसे कपड़े पहिनने वाला है, ऐसा भेष भूषा करने वाला है, ऐसे शस्त्र आदि रखने वाला है । जो जिस रूप में, जो पुद्गलों में अपनी वासना रखता हो उस रूप तका करे और ज्ञानपुञ्ज ज्योतिस्वरूप को भुला दे तो क्या उसने भगवान को पाया है? नहीं पाया है । तो क्या पाया है जैसे यहाँ पड़ौस के आदमियों को पहिचाना है इस ढंग से उन्हें पहिचाना है पर भगवान को नहीं जाना है । इस प्रकार ज्ञानवृत्तिरूप निश्चयसंयम, निश्चयप्रतिक्रमण आदिक इन पर लक्ष्य नहीं है, इन पर दृष्टि नहीं है, और स्वभाव से पराइमुख होकर बाह्य क्षेत्र में दृष्टि लगाकर यह जीव है, इसकी दया करना है, हिंसा नहीं करना है । देखो हमने सत्य बोलने का नियम लिया है, हम इूठ न बोलेंगे, सारी बातें करें पर ज्ञान स्वभाव का स्पर्श नहीं है तो जैसे असंयमीजन असंयम की प्रवृत्ति करते हैं और अपने आपमें स्वाधीन आनन्द नहीं पाते हैं इसी प्रकार यह व्यवहारसंयम में लगा हुआ पुरुष भी व्यवहारधर्म में प्रवृत्ति करता हुआ भी निश्चयस्वरूप के दर्शन बिना, स्पर्श बिना वह भी किसी विह्वलता में पड़ा हुआ है ।

ज्ञानावगाह—भैया ! परम संतोष की दशा है तो इस अगाध ज्ञानसागर में अपने उपयोग को मग्न करने की दशा है । उसको लक्ष्य में लिए बिना जो धर्म के लिए मन वचन काय की प्रवृत्ति की जाती है उसमें मंदकषाय तो अवश्य है, उन विषयभोगों की अपेक्षा, न वहाँ ऐसी विह्वलता है पर पर्दा कुछ भी बीच में पड़ा है तो दर्शन नहीं कर पाते हैं । कहते हैं लोग कि तिल की ओट में पहाड़ है । इसका अर्थ यह है कि पहाड़ तो है १०-५ मील का लम्बा चौड़ा और आंख है तिल के दाने के बराबर, जिस आंख के द्वारा इतना बड़ा पहाड़ नजर आता है उस आंख के सामने तिल का दाना यदि आ जाये तो वह पहाड़ नजर में नहीं आता है । या कोई छोटा-सा कागज का टुकड़ा ही ले लो, यदि उसे ही आंख के सामने कर दिया जाये तो ढक लेता है वह सारे पहाड़ को । एक तिल की ओट में सारा पहाड़ अवरुद्ध हो गया । इसी प्रकार एकमात्र उपाय सहज आत्मस्वभाव की दृष्टि बिना ये सारी प्रवृत्तियां अज्ञानमय बन गयी हैं ।

अज्ञान की गन्ध—भैया ! कितना ही कुछ करें आत्मसत्त्व के ज्ञान बिना उसका फल आत्मसंतोष नहीं मिलता है और कितना ही हैरान होकर बैठते हैं । हम तो दुनिया के लिए, समाज के लिए इतना काम करते हैं, इतनी व्यवस्था बनाते, इतना प्रबंध करते, लेकिन ये लोग ऐहसान मानने वाले नहीं हैं । अरे यह जीव का कौनसा विष फैल रहा है ? वही अज्ञान । तुम दूसरे के लिए कुछ कर रहे हो क्या ? जो तुम व्यवस्था करते हो, समाज का उपकार, देश का उपकार, वह किसके लिए करते हो ? दुनिया के लिए अच्छा कहलाऊँ, ज्ञानवान कहलाऊँ, लोग मेरा उपकार मानें, लोक में मेरा महत्व हो । इस मिथ्या आशय की पुष्टि के लिये केवल विकल्प किया जा रहा है । अरे यह कितना अज्ञान भाव किया जा रहा है ?

आत्महित के लक्ष्य में क्षोभ का अभाव—यदि इस अज्ञान भाव को नहीं किया जाता और केवल यह परिणाम रहता कि मुझे अपने उपयोग को विषय कषायों के पाप में नहीं फंसाना है इसलिए दीनों का उपकार

करके, दुखियों के दुःख दूर करके, धर्मात्माओं के बीच धर्म की चर्चा करके अपने क्षणों को, अपने परिणमन को सुरक्षित कर लें, खोटे परिणामों में न जाने दें, इस लाभ के लिए यदि मैं ये सब कार्य करता होता तो जिसके लिए करता वे औंधे भी चलते, हमें गाली भी देते, उलटे भी जाते, कहना भी न मानते तो भी उसे आत्मसंतोष होता कि मैंने अपने उपयोग को दूषित बात से बचा लिया, उसका तो लाभ लूटा ।

परमार्थस्वरूपपरिचय का महत्त्व—तो इस तृतीय भूमि से ही जीव निरपराध होता है, ज्ञाता दृष्टा रहने के साधकतम परिणामों से ही यह जीव निरपराध रहता है, उस उत्कृष्ट तृतीय अवस्था को पाने के लिए ही वह द्रव्यप्रतिक्रमण है । कोई आदमी अटारी पर **चढ़ने** के तो लक्ष्य न रखे, १०-१२ सीढ़ी है मान लो—दो चार सीढ़ियों पर चढ़े उतरे, यही करता रहे, भाव न बनाए कि मुझे ऊपर जाना है । लक्ष्य ही नहीं है जिस पुरुष का उसे आप भी फालतू और बेकार कहेंगे । दिमाग खराब है, व्यर्थ की चेष्टा कर रहा है, यों बोलेंगे, इसी तरह जिसके निश्चय संयम प्रतिक्रमण का लक्ष्य ही नहीं है, मुझे केवल जानन देखनहार रहना है, निज जो सहज ज्योतिस्वरूप परिणामिक भाव है वह मेरी दृष्टि में रहे, बस जानता रहूँ, सभी पदार्थ जानने में आएँ जैसे हैं तैसे, जैसे यथार्थ हैं तैसे जानने में आएँ!, ऐसी ज्ञाता द्रष्टा की वृत्ति रहने का जिसके लक्ष्य नहीं है वह झांझ बजावे, मंजीरा बजावे, नृत्य करे, पूजा करे, यज्ञ रच ले, विधान बना ले । सब जगह उसकी दृष्टि है इस पर्याय के ख्याति की ।

निश्चयवृत्ति से अन्तर्बाह्यवृत्ति की सार्थकता—मैया ! पर्यायबुद्धि के यह भाव कहां है कि मुझे विषय कषायों से बचकर रहना है इसलिए यह कर रहा हूँ । यदि यह भाव होता तो उसे अपनी वृत्ति पर संतोष होता । किन्तु संतोष तो दूर रहो, अनुकूल व्यवस्था न बनी, लोग बढ़ाई न करें तो उसे मन में ऋध आता है । सो यह निश्चय करो कि उस निश्चय प्रतिक्रमणरूप उत्कृष्ट अप्रतिक्रमण की प्राप्ति के लिए ही यह व्यवहारप्रतिक्रमण है, यह व्यवहार धर्म है । इससे यह मत मानो कि यह उपदेश द्रव्यप्रतिक्रमण आदिक को छुटाता है । छुटाता नहीं है, किन्तु यह उपदेश है कि केवल व्यवहारप्रतिक्रमण आदिक से ही मुक्ति नहीं होती है, प्रतिक्रमण और निकृष्ट प्रतिक्रमण इनका जो विषय नहीं है ऐसा जो तृतीय अप्रतिक्रमण है, निश्चयप्रतिक्रमण निश्चयसंयम स्वभाव की उपासना, निर्विकल्प वृत्ति वीतराग स्वसम्वेदन शुद्ध आत्मा की सिद्धि ऐसे ही दुष्कर परिणाम अर्थात् जो कठिनता से बनता है पुरुषार्थ, वह परिणाम ही इस जीव का कुछ हित कर सकता है । इस निश्चयप्रतिक्रमण के बिना व्यवहारप्रतिक्रमण आदिक से मुक्ति नहीं हो सकती है, अतः उस निश्चय स्वभाव की ओर जाना चाहिए ।

निश्चयप्रतिक्रमण ही शुद्धता—प्रकरण यह चल रहा है कि अज्ञानीजनों की जो अप्रतिक्रमण आदि रूप दशा है वह तो विषकुम्भ है ही किन्तु भावप्रतिक्रमण के साथ होने वाला द्रव्यप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है । वह द्रव्यप्रतिक्रमण भी यदि भावप्रतिक्रमण न हो तो विषकुम्भ हो जाता है । प्रतिक्रमण का लक्षण बताया गया है कि पूर्वकृत जो शुभ और अशुभ भाव हैं, जिनका नाना विस्तार है उस शुभाशुभ भावों से अपने आपको हटा लेना सो प्रतिक्रमण है । यही है निश्चयप्रतिक्रमण का लक्षण ।

सकल विपदावों के विनाश का एक उपाय—मैया ! जगत् में विपत्तियां अनेक हैं । कितनी ही तरह की

विपत्तियां हैं तो कम से कम इतना तो मान ही लो कि जितने ये मनुष्य हैं और जितने पशुपक्षी कीड़े मकौड़े, ये सब दृष्टिगत होते हैं उनकी जितनी संख्या है उससे हजार गुणी तो विपत्तियां मान ही लो—क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने में हजारों प्रकार की विपत्तियां महसूस करता है। दिन भर में कितने विकल्प विपत्तियां हो जाती हैं। बड़ा हो, छोटा हो, ज्ञानी हो, मूर्ख हो, सबके अन्तर में मन में बिजली की तरह कितनी ही विपत्तियों की दौड़ हो जाती है। कितने ख्याल बनाए हुए हैं, धन का जुदा ख्याल, परिवार का जुदा ख्याल, शारीरिक स्वास्थ्य कमज़ोरी का जुदा ख्याल, कोई मेरी बात मानता है कोई नहीं मानता है उसका जुदा ख्याल, और अलग-अलग क्या बताया जा सकता है? कितनी ही विपत्तियां तो ऐसी हैं कि जिनका न रूप है, न मुंह से कहा जा सकता है और अनुभव में आता है। इस तरह विपत्तियां तो अनेक हैं किन्तु उन सब विपत्तियों के मेटने की तरकीब केवल एक है।

सकल आधियों के व्यय की एक औषधि—भैया! यह बड़ी अच्छी बात है कि जितनी विपत्तियां हैं, उतनी अगर मेटने की तरकीबें हों तो बहुत परेशानी हो। यह आत्मदेव की बड़ी करुणा है, प्रभु का बड़ा प्रसाद है कि संसार के समस्त संकटों के मिटाने की औषधि केवल एक है। क्या है वह एक औषधि? जी तो चाहता होगा कि बोलें कि वह क्या एक औषधि है, क्योंकि बहुत बड़ी उत्सुकता होगी कि संकट मारे तो हम परेशान हो गए हैं और कोई त्यागी मुझे एक दवाई ऐसी बता रहे हैं कि सारे संकट दूर हो जाएं। ऐसा सुनकर किसको उमंग न आएगी कि वह है क्या एक दवा? मगर उस दवा को अभी बतायेंगे तो बहुत से लोग तो निराश हो जायेंगे कि अरे बड़ी उत्सुकता से तो सुन रहे थे कि यह एक ही दवा ऐसी बतावेंगे कि हमारे सारे संकट दूर हो जायेंगे। क्या-क्या संकट है? मुन्ना बात नहीं मानता सो वह बात मान लेगा, भाई लड़ते हैं सो वे हाथ जोड़ने लगेंगे; देवरानी, जेठानी अच्छी तरह नहीं बोलती सो वे हमारे लिए फूल बिछा देंगी—ऐसी कोई दवा बतावेंगे।

अनात्मपरिहार व आत्मग्रहणरूप ज्ञानवृत्ति की सर्वोषधिरूपता—सुनते तो हो उत्सुकता से, किन्तु साहस करके सुनो कि वह एक औषधि क्या है? बाहर से सबका ख्याल छोड़ो और इन्द्रियों की संभाल करके, बन्द करके अपने आपमें ऐसा अनुभव करो कि जो कुछ भाव बीत रहे हैं, मुझ पर जो कल्पनाएँ और विचार आ रहे हैं, इस आत्मभूमि में इन सबसे न्यारा एक चैतन्यमात्र हूं—ऐसी दृष्टि बना लें तो सब संकट दूर हो जायेंगे। आपको यह शंका हो रही होगी कि हमें तो अंदाज नहीं हो रहा है कि इस एक औषधि से हमारे वे सब संकट दूर हो जायेंगे। लोग तो न मानेंगे कि इस औषधि से तमाम कष्ट मिटेंगे। तो भाई हाथ जोड़ने न आवेंगे। अरे भैया! क्या सोचते हो? ऐसे मोक्ष की इस औषधि के सेवन से हमारे में किसी का विकल्प ही न रहेगा। फिर संकट क्या? संकट तो एकमात्र विकल्पों का है। है किसी का यहाँ कुछ नहीं। विकल्प बना लिया है और ऐसी परिस्थितियां हो गयी हैं कि उनको सुलझाना कठिन हो गया है।

भेदभावना व गम्भीरता—भैया! जब यह आत्मा इस शरीर से भी भिन्न है तो अन्य वैभव और पुत्रादिक का तो कहना ही क्या है? लोग उन्हें मान रहे हैं अपना और वे हैं अपने नहीं। वे तो अपने परिणमन से विदा होंगे या आयेंगे या कुछ होंगे। उन पर अधिकार नहीं है और मान लिया कि मेरा अधिकार है, बस

यही क्लेश है। कदाचित् आपको कोई प्राणी ऐसा भी मिल गया हो कि स्त्री, पुत्र या मित्र सदा आपके अनुकूल रहता हो, आपसे बहुत अनुराग करता हो तो भी धोखे में न रहिए, आसक्त मत होइए। जिन्दगी भर भी कोई अनुराग करेगा और उस अनुराग में अपने को धन्य माने, अपना बड़प्पन माने, अपने को कृतार्थ माने तो यह उसकी भूल है। उसके वियोग के समय अपने को उतने क्लेश होंगे कि सारे वर्षों में जो सुख भोगा है, वह सब सुख अन्तर्मुहूर्त में कभी इकट्ठा होकर बदला ले लेगा।

अमृततत्त्व की उपादेयता—समस्त संकटों की केवल एक औषधि है—समस्त विभावों से विविक्त चैतन्यमात्र अपने को अनुभव करना। गप्प करने से, बातें करते से उसका आनन्द नहीं आता। सो कर सके उसकी यह बात है, इसे गृहस्थ भी कर सकते हैं। न टिक सकें इस भाव पर, किन्तु किसी क्षण इसकी झलक तो पा सकते हैं। अमृत की एक बूंद भी सुखप्रद होती है। वह अमृत जो सुखदायक है, वह जरूर कहीं से ढूँढकर उसको आत्मस्थ कर लो जहाँ से मिल जाए अमृत। बगीचे से मिल जाए तो वहाँ से तोड़ लो। किसी हलवाई के पास मिल जाए तो वहाँ से ले आवो। जहाँ से मिले अमृत तो जरूर एक बार पी लो, क्योंकि अमृत के पीने से अमर हो जावोगे। कभी भी न तो कोई संकट आएगा और न कभी मरेंगे। ऐसा अमृत जरूर थोड़ा-सा हथिया लो।

अमृततत्त्व की खोज—ठीक है ना, अब चलो ढूँढने अमृत को। जहाँ तुम चलो वहीं हम चलें और आनन्द पायें। अच्छा चलो फिर सब लोग हलवाई के यहाँ। वहाँ पर भी दृष्टि पसारकर देखें तो एक भी हलवाई न मिलेगा, जिसके यहाँ कोई-सी भी मिठाई में अमृत मिले कि जिसको खाने से और पीने से वह अमर हो जाएगा और संकट न आयेंगे। बल्कि चोरी-चोरी से खा लेंगे तो खूब खा लेंगे, क्योंकि चोरी का माल रहता है तो उसके खा लेने से खूब दस्त शुरू हो जायेंगे। हलवाइयों के भी वह अमृत न मिलेगा। अब चलो बगीचे में। कोई भी फल ऐसा नहीं है कि जिस फल खाने से यह अमर हो जाए और सब संकट मिट जायें।

विनाशीक वस्तु के अमृतपने का अभाव—अरे भैया ! पहिले उस अमृत का भी तो विचार कर लें। हम जिसको खा लेंगे, फल हो या रससा हो तो जिसे हम खा लेंगे, वही चीज मर मिटी, मर जाएगी। दोनों के नीचे आकर तब फिर जो खुद मर जाए, यह हमें अमर कर देगा, वह कैसे हो सकेगा? तब तो खाने-पीने लायक चीज में तो अमृत न मिलेगा।

अवियुक्ततत्त्व में अमृतपने की संभावना—अब देखने लायक कोई चीज ढूँढों। शायद किसी के देखने से अमर हो जाए, संकट मिट जाएँ। देखते भी जावो तो कोई ऐसी चीज न मिलेगी कि जिसके देखने से अमर हो जाएं, क्योंकि जो कुछ भी दृष्टिगोचर है, वे सब मर-मिटने वाले हैं। हम उनसे अमर होने की क्या आशा करें? तब एक निर्णय बना लो कि अब तो ऐसी चीज ढूँढों कि जो खुद न मरती हो और हमें शरण बन सकती हो? अब एक ही खोज रह गई। देखो अच्छा, जो अपने पास रहे और फिर कभी अपने से अलग न हो। ऐसी कोई चीज ढूँढों जिसके सेवन से यह आत्मा अमर हो सकेगा। मिला क्या खूब खोजने के बाद? किन्हीं के तो हृदय में समाधान हो गया होगा, किन्हीं के अर्द्ध समाधान हो गया होगा और कोई अब भी इस

प्रतीक्षा में होंगे कि ये खोलकर कह क्यों नहीं देते? कौन-सा वह अमृततत्त्व है, जिसके देखने से अमर हो जायेंगे? क्यों इतनी प्रतीक्षा दिलाकर परेशान करते हैं?

अमृत निज सहजस्वरूप—अच्छा सुनो—यह चीज जरा कठिन है, इसलिए देर में बोली जा रही है। वह अमृत है अपने आपका सहजस्वभाव। उसका पान होगा, पी लेना पड़ेगा ज्ञानदृष्टि से। उसके पीने में मुंह काम न देगा। वह आत्मा का सहजस्वरूप चैतन्यभाव ज्ञातादृष्टमात्र आकाशवत् निर्लेप समस्त परभावों से विविक्त अनादि अनन्त अहेतुक सनातन स्वरसनिर्भर निरञ्जन टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभाव उसकी दृष्टि होगी तो यह अमर भी होगा और सदा के लिए संकट भी मिटेंगे।

अमृततत्त्व की उपेक्षा तरंग—भैया ! एक कहावत है—आढ़तियों के बीच की बात है। जैसे मान लो गल्ले के छोटे आढ़ती है, दूसरे की अनाज की गाड़ी बिकवा दें, सो कुछ मिल जाता है दूकानदारों से और कुछ मिल जाता है गाड़ी वाले से, क्योंकि बंधा होता है। एक बल्देवा नाम का आढ़तियां था। जब किसी समय भाव की खूब घटी-बढ़ी रहती है दूकानदार भी चिंतित रहता है और बेचने वाले भी चिंतित रहते हैं। सो भले ही चिंता में पड़े, किंतु कोई जब माल बेचने को गया तो वह तो बेचना ही है, कोई अपना माल वापिस ले जाता हो, ऐसा नहीं है। वह तो बिकना ही है। सो एक बार ग्राहक और दूकानदार में सौदा न पटा। सो गाड़ी वाले से बल्देवा बोला कि तुम थोड़ा गम खावो और दूकानदार से भी बोला कि तुम थोड़ा गम खावो, जरा नाश्ता कर लो। फिर बल्देवा एक भजन बोलता है—

“लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा ।”

अरे चाहे लेने वाला मरे, चाहे देने वाला मरे, बल्देवा तो ठाठ से कलेवा करेगा। हमें तो दोनों ही जगह से मिलना है। क्या परवाह है? सो इस अमृततत्त्व को यदि पी लो तो जगत् के पदार्थ चाहे वहाँ जाएं? चाहे यहाँ जाएं, क्या परवाह है? जब परविषयक विकल्प ही नहीं रहा और ज्ञानदृष्टि ही जग रही है, तब वहाँ चिंता का अवसर ही नहीं है। वहाँ क्या शंका करनी कि अमुक दुःख कैसे मिटेंगे?

अमृततत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा—भैया ! यह है अपना ज्ञानस्वरूप अमृत तत्त्व। सबको छोड़कर और एकदम ज्ञानबल से अपने अंतःस्वरूप में घुसकर इस ध्रुव चैतन्यस्वभाव को अपना लें, यह मैं हूँ। ओह, इससे आज तक मिलन नहीं हुआ था, इसलिए दर-दर ठोकरें खानी पड़ी थी। इसका ही मिलन अपूर्व मिलन है। हिम्मत करनी पड़ती है, मोही और कायर पुरुषों से बात यह बनने की नहीं है, किन्तु भैया। इसमें कमजोरी क्या? घर के जितने सदस्य है उन सबका अपना-अपना भाग्य है। फिर अपने हित की बात को कमजोर करना कुछ विकल्प ही है, अपने मित्र और परिवारजनों का, उनका भी तो भाग्य है। और देखो भैया! गजब की बात जिनका भाग्य बड़ा है उनकी तुम्हें नौकरी करनी पड़ती है। वे तो अपने घर में बैठे मौज कर रहे हैं, और उनकी चाकरी करने वाले आप पुण्यहीन हैं। आप से भी कहीं अधिक वे पुण्यवान् हैं, जिनकी आप चाकरी कर रहे हैं सो क्यों पुण्यहीन होकर पुण्यवानों की फिकर कर रहे हो।

अबाध में बाधा की बनावट—कौन-सी कमजोरी है कि जिससे अपने पंथ में नहीं उतरा जा रहा है और इस अमृततत्त्व में उतरने पर निर्विकल्पदशा हो जायेगी। तब फिकर क्या है, दूसरे कुछ भी हों। दूसरों

से दूसरे बँधे हुए तो नहीं हैं। उनमें से कोई गुजर गया तो जिस गति में जायेगा वहां दुःख यदि भोगेगा तो यहाँ का कौन उसे सहायता दे सकता है और इसी भव में उनके पाप का उदय आ जायेगा तो क्या तुम उन्हें कुछ सहायता दे सकोगे? फिर कौन-सी असलियत की बात है कि जिसके कारण अपने इस हित के मार्ग में नहीं उतरा जा सकता है। कोई बात किसी को न मिलेगी और व्यर्थ की बकवाद इतनी है कि अजी यह परेशानी है इसलिए हम कल्याण में आगे नहीं बढ़ सकते। और है रंच भी किसी को परेशानी नहीं।

व्यर्थ की परेशानी—भैया! जितने यहाँ बैठे हैं उन सबका ठेका लेकर हम कह रहे हैं कि किसी को रंच भी बाधा नहीं है। पर हमारी बात मानोगे थोड़े ही। ये तो वैसे ही कह रहे हैं। न हमें कोई बाधा है, न तुम्हें कोई बाधा है और हमारी बात हम क्या कहें, हम ही पूरे नहीं उतर रहे और जान रहे हैं कि कोई बाधा है ही नहीं। बताओ इससे बढ़कर और क्या होगा कि तुमने भक्ति से भोजन करा दिया, बाकी किसी भी समय कुछ फिकर ही नहीं। एक आध कपड़ा चाहिए तो मिल गया। बतावो हमें क्या परेशानी है? मगर व्यर्थ की बकवाद की कमेटी के हम भी एक मेम्बर हैं। पर ऐसा है कि कोई बकवास कमेटी का प्रेसीडेन्ट है, कोई मंत्री है, कोई उपमंत्री है, पर हम एक जनरल मेम्बर हैं। इतनी बात होगी मगर यह अब कितनी व्यर्थ के विकल्पों की परेशानी है।

एक दवा के अनेक अनुमान—इन सब शुभ अशुभ परिणाम विशेषों से जो अपने को निवृत्त कर लेता है उसका ही नाम है प्रतिक्रमण। इसी प्रकार शेष सब ७ तत्त्वों की भी यही बात है। उपाय एक है। जो वर्तमान में विभाव हो रहे हैं उनसे न्यारा ज्ञानमात्र अपने को मान लें, बस इतनी सी औषधि है समस्त दुःखों के मिटाने की। फिर करने हैं सैकड़ों तरह के काम, पूजा, जाप, दान और कितनी ही बातें। पढ़ाना, अभ्यास करना आदि बहुत सी बातें हैं। अरे भाई क्या करें? जो हठी बालक है उनकी आदत तो देखो कि दवा तो देना है सबको एक, मगर उन हठी बालकों की रुचि माफिक वह दवा किसी को बतासा में दे रहे हैं, किसी को मुनक्का में दे रहे हैं, कोई त्यागी हठी बालक मिल गया, अब शक्ति नहीं खाये बतासा नहीं खाये तो उसे मुनक्का में दे रहे हैं, दवा सबको एक ही दे रहे हैं मगर जुदा-जुदा ढंग से दे रहे हैं, उस दवा को पीना नहीं चाहता तो फुसलाकर, बहलाकर उस हठी बालक को भिन्न-भिन्न अनुपान के साथ दवा देता है। इटावा तो दवावों का घर ही है।

सर्वसंकटहारी औषधि—सो ऐसी ही औषधि तो है हम सब लोगों की एक, कि वैभव से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप पर अपनी दृष्टि रखना अर्थात् यह मैं हूँ और यह जो जगमग-जगमग रूप से जो अर्थ परिणमन हो रहा है उतना ही मेरा काम है। इतनी श्रद्धा होना और ऐसा ही उपयोग बनाना सो समस्त संकटों के मेटने की एक औषधि है।

उन्नत होने की शिक्षा—इस प्रकरण में फिर से दृष्टि दीजिए। यह बात यहाँ कही है कि जो अज्ञानी जनों का निकृष्ट व्यवहार है वह और कुछ धर्ममार्ग में बढ़ने की धुनि में जो पापों का त्याग, इन्द्रियों का संयम आदिरूप जो ब्रत व्यवहार है वह और एक केवल ज्ञाता दृष्टा रहने में मग्न रहना एक यह पद—इन तीन पदों

में से जहाँ मध्य के व्यवहार ब्रत संयम को याने निश्चय शून्य व्यवहार संयम को भी जहाँ विष या हेय बताया है तो ऐसा जानकर यह दृष्टि न डालना कि वाह अच्छा रहा, अब यह ब्रत भी हेय बता दिया हमारे मन माफिक कथन कर दिया, ठीक है। यों प्रमादी होने के लिए नहीं कहा जा रहा है, किन्तु यह दृष्टि देना है कि ओह जहाँ द्रव्यरूप यह सारा व्यवहार संयम भी विष बताया गया वहाँ पाप की तो कहानी ही क्या है? यह तो महा हलाहल विष है जिसके मौज में मस्त बन रहे हैं।

प्रमाणवाद में सबकी संभाल—भैया! जो निश्चय का आश्रय लेकर बहाना कर प्रमादी होकर अपनी यथातथा प्रवृत्ति कर रहे हैं, उनकी स्वच्छन्दता को भी मेटा गया है इस कथन में और साथ ही यह उपदेश दिया है कि जो व्यवहार का पक्ष करके अपने द्रव्य के आलम्बन में ही संतुष्ट हो रहे हैं, शुभ भावों में ही तृप्त हो रहे हैं, उनको वह आलम्बन छुड़ाया गया है अर्थात् व्यवहार के आलम्बन से जो यह मन अनेक प्रवृत्तियों में भ्रमण करता था, उसे इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा में ही लगाया गया है। सो जब तक इस विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तब तक हे मुमुक्षु जनों! इस चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व के स्वरूप की जानकारी बनावो और हर प्रयत्न से एक निज आत्मतत्त्व में मग्न होने का उद्यम करो, मोह को ही सब कुछ मत मानो, वह मोह तो इस संसार में रूलाने वाली विपत्ति है।

निचली वृत्ति का निषेध—यहाँ तीन पद बताए गए हैं—एक अप्रतिक्रमण, दूसरा उससे ऊँचा प्रतिक्रमण और तीसरा उससे भी ऊँचा उत्कृष्ट अप्रतिक्रमण। इसमें जब प्रतिक्रमण को ही विष बताया गया है तो नीचे दर्जे का जो अप्रतिक्रमण है, वह अमृत कैसे बन जाएगा? इसलिए हे मुमुक्षुजनों! तुम नीची-नीची निगाह रखकर गिरकर प्रमाद मत करो, किन्तु निष्प्रमाद होकर ऊपर-ऊपर और चढ़ो। प्रतिक्रमण को विष बताने का प्रयोजन यह मत ग्रहण करना कि अरे वह तो विष है, उसके नजदीक क्या जाना? इसके लिए उपदेश नहीं दिया गया है, किन्तु इस प्रयोजन के लिए उपदेश दिया गया है कि जब यह द्रव्यप्रतिक्रमण भी विष बताया गया तो यह अप्रतिक्रमण तो महाविष समझिए। तब नीचे-नीचे मत गिरो, किन्तु ऊपर-ऊपर चढ़ो। उस निश्चयप्रतिक्रमण के निकट पहुंचो, जो शुद्ध भावों वाला है।

मोक्षमार्ग में प्रमाद का कारण कषाय का भार—अहा, निज ज्ञानस्वभाव का जिसे परिचय मिला है, वह प्रमादी भला कैसे हो सकता है आलसी नहीं हो सकता अर्थात् अपने को ज्ञातादृष्टा रखने में उद्यमी होगा वह नीचे नहीं गिर सकता है, क्योंकि जब कषायों का भार लदा हो तब तो आलस्य आएगा। ज्यादा बोझ जब हो जाता है तो आलस्य आने लगता है। जैसे कोई दफ्तर का काम है, लिखने का काम है, जब काम भारी हो जाता है तो आलस्य आता है कि नहीं? अजी देखेंगे, कर लेंगे फिर। जब गृहस्थी का बोझा होता है तो हैरानी अधिक हो जाती है, घर के लोग भी ढंग से बोलने वाले नहीं रहते हैं, ऊँट-पटांग व्यवहार करने लगते हैं। तब घर-गृहस्थी को संभालने में आलस्य आ जाता है या नहीं? आ जाता है। क्या करें दिल गिर जाता है।

प्रमाद से प्रमाद की वृद्धि—किसी लड़के का पाठ कई दिन का छूट जाए और कुछ दिन सबक तैयार न रख सके तो बीच में एक दो स्थल जब उसके छूट जाते हैं, तब उसे पढ़ने में आलस्य लगता है। वह

कहता है कि पिताजी, इस साल तो रहने दो, अगले साल फिर स्कूल अटेण्ड करेंगे और थोड़ा पेटदर्द का बहाना, सिरदर्द का बहाना कर लेता है। दो ही तो ये बहाने हैं जिनका सही पता कोई नहीं लगा सकता है। अगर वह कहे कि बुखार है तो नब्ज देखकर जान जाएगा कि बुखार नहीं है, पर पेटदर्द और सिरदर्द को कोई नहीं जान पाता है। इसलिए वह अगले वर्ष स्कूल अटेण्ड करने को कहता है। इसी प्रकार जब धर्म में प्रमाद होता है तो प्रमाद का टाइम लम्बा हो जाता है। सो जब कोई बोझ हो जाता है तो आलस्य आने लगता है। घर में कूड़ा-कचरा मामूली पड़ा हो तो उसे झाड़ने में कितना बढ़िया मन लगता है। कूड़ा-कचरा बहुत फैल जाए तो उसे साफ करने में बहुत आलस्य आता है। यही होता कि अरे इसे रहने दो, फिर देखेंगे। जब बोझा लद जाता है तो आलस्य आया करता है।

प्रमादपरिहार में कल्याण—भैया ! संसारी जीवों पर कितना बोझ लदा है, इसलिए मोक्षमार्ग में आलस्य आ रहा है। शुद्ध निर्मल परिणाम रखने को जी नहीं चाहता। हालांकि खोटे परिणाम करने से विपत्तियों पर विपत्तियां आ रही हैं। वे विपत्तियां तो इसे मंजूर हो जाती हैं, मगर निर्मलता के लिए उत्साह नहीं जगता, क्योंकि बहुत अधिक कषायों का बोझा लदा हुआ है। इस कारण हे मुमुक्षुजनों ! अपने ज्ञायकस्वरूप रस से निर्भर इस आत्मस्वभाव में निश्चित होकर अर्थात् अपने उपयोग द्वारा अपने ही इस स्वभाव को जानकर, ज्ञानी बनकर, मुनि बनकर अर्थात् समझदार होकर क्यों न शीघ्र परमशुद्धता को प्राप्त करते हो और समस्त संकटों से छूटने का यत्न करते हो ?

कषायों की असारता—भैया ! संसार में सार रखा क्या है ? कुछ शांत होकर, कुछ कषाय मंद करके विचार तो करो कि सार रखा किसमें है ? मूर्ख आदमियों में बसने से कुछ तत्त्व नहीं मिलता। यह बात सही है या नहीं। मूर्ख और मूढ़ दोनों का एक ही अर्थ है या नहीं ? आप लोग बोलिए। मूढ़ आदमियों में रहने से कुछ तत्त्व नहीं मिलता है। मूढ़ और मोही दोनों का एक ही अर्थ है ना, अब बोलो। मोही आदमियों में रहने से तत्त्व नहीं मिलता है। अब जरा आंखें पसार करके देखो कि सारे विश्व में मोही आदमी मिलेंगे या निर्मोही ? विरला ही कोई निर्मोही संत हो। सो तुम्हारी अटक हो तो काम-काज छोड़कर, घरबार का अनुराग छोड़कर निर्मोही के पास अपने मन को लावो। निर्मोही तुम्हें वैसे ही न मिल जाएगा। जिनमें बस रहे हो, वे सब मोह पीड़ित हैं, वेदनाग्रस्त हैं। उनमें झुकने से, आकर्षण से आत्मा को तत्त्व क्या मिलेगा ? सो कषायों का बोझ हटा लो, हल्के हो जावोगे।

भाररहित की सुरक्षा—भैया ! जो वजनदार पेड़ खड़े हुए हैं नदी के किनारे वे भी उखड़कर बह जाते हैं और जो हल्के छोटे-छोटे अंकुर होते हैं, छोटी-छोटी घास होती है वह लहराती रहती है। वह जड़ से उखड़ नहीं जाती। जो कषायों से लदे हुए जीव हैं वे इस संसारसमुद्र में बहते रहते हैं, उनकी कहीं स्थिति नहीं रह पाती है। किन्तु जो कषायों के बोझ से हल्के हैं, भाररहित हैं वे अपने आपमें अडिग रहते हैं। इस आध्यात्मिक अपूर्व मर्म की बात सुनकर तुम नीचे-नीचे मत गिरो, ऊपर बढ़ते चलो। जो पुरुष अशुद्ध परिणामों के आश्रयभूत परपदार्थों को त्यागकर अपने आत्मद्रव्य में लीन होते हैं वे निरपराध और बंध का नाश करने से अपने आपमें जो स्वरूप का प्रकाश उदित होता है उससे महान् बन जाता है, परिपूर्ण होता है। जो

अपने को केवल ज्ञानमात्र देखता है वह कर्मों से छूटता है । जो अपने को रागी-द्वेषी अनुभव करता है वह कर्मों से बंधता है ।

भगवंतों का निष्पक्ष उपदेश—जैसे कोई गुरु किसी शिष्य को ध्यान करने की बात सिखाये—बैठो भाई अच्छा आसन मारकर । देखो—कमर सीधी करके बैठो । गुरु सिखा रहा है ध्यान करने की विधि—अपनी आँखें बंद करलो—सबका ख्याल छोड़ो, हमारा भी ख्याल छोड़ो, और अपने आप में निर्विकल्प होकर ज्ञानप्रकाश देखो । शिष्य यह कहें कि गुरु महाराज तुम तो हमारे बड़े उपकारी हो, हम तुम्हारा ख्याल कैसे छोड़ दें? तो जो उपकारी गुरु है उसे ऐसा कहने में देर नहीं लगती, संकोच नहीं होता, उसका तो पहिले से ही निर्णय किया हुआ तरीका है कि अच्छा बैठो ध्यान में सबको भूल जावो, हमें भी भूल जावो, अपने शरीर को भी भूल जावो । चित्त में किसी को मत ध्यान में लावो और देखो अपने अन्तर में अपना प्रकाश । इससे भी बढ़कर प्रभु का उपदेश है । भगवान यों कहता है भक्त से तुम इन्द्रियों को संयत करके बिल्कुल निष्पक्ष होकर अपने आपमें अपने आपको देखो, हमें भी भूल जावो । तुम अपने निजस्वरूप को निहारो, ऐसा उपदेश है ना ।

भगवदाज्ञा की पालना—अब बताओ भैया कोई भगवान की मूर्ति के समक्ष खड़े होकर एक निगाह से मुद्रा को अपनी आँखों में भरकर आँखें बंद करके उसे भी भूलकर अपने आपको देखने में लग जाये तो उसने भगवान का हुक्म माना या भगवान का विरोध किया ? भगवान का हुक्म माना । तो जो सर्व परद्रव्यों से हटकर केवल अपने ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्य में ही अपना उपयोग लगाते हैं वे शुद्ध होते हुए बंधन से छूट जाते हैं । यह मोक्षाधिकार यहाँ सम्पूर्ण होने वाला है । इसके अंतिम उपसंहार रूप में यहाँ सब विधियों द्वारा जब यह जीव अपने को संभाल लेता है तब इसके बंध का छेद होता है । जहाँ राग का अभाव हुआ, बंध का विनाश हुआ तो यह अविनाशी मोक्षस्वरूप को प्राप्त करता है ।

व्यर्थ को अटकें—भैया ! कितनी अटकें हैं यहाँ संसार में जिनमें व्यर्थ ही अटककर यह आत्मा अपने इष्ट पद को, उत्कृष्ट पद को प्राप्त नहीं कर पाता । रोकता कोई नहीं है किन्तु हम ही अपने विकल्प बनाकर उनमें अटकते हैं । कितनी अटके हैं यहाँ, और सारी व्यर्थ की अटके हैं । वैभव प्रकट जुदा है, फिर भी कैसी उसकी अटक है । पता नहीं कल क्या होगा ? खुद भी रहेंगे या न रहेंगे । धन वैभव भी किसी के पास रहता है नहीं । किसी के पास किसी तरह से मिटेगा, किसी के पास किसी तरह मिटेगा । विवेकी हुआ तो दान देकर मिटा देगा । मोही हुआ तो जोड़ जोड़कर धरेगा और लूटने वाले लूट ले जायेंगे या खुद मर जायें तो यों ही लुटा दिया । धन वैभव किसी के पास सदा रहा हो ऐसा कोई उदाहरण मिले तो बतलावो—राम का मिले, आदिनाथ का मिले, कृष्णजी का मिले, किसी का मिले तो हमें ले चलकर दिखाएँ तो कि ये नवाब साहब हैं जो शुरू से सदा रईस बने हैं, रहेंगे, लक्ष्मी भी रहेगी । एक भी कहीं कोई मिल जाये तो हमें दिखा दीजिए, अपने प्रेमियों को दिखा दीजिए कोई न मिलेगा ।

अविश्वास्य व विनश्वर की व्यर्थ प्रीति—भैया ! यह धन मिल गया है मुफ्त में और जायेगा भी मुफ्त में । मिला सो कुछ उसमें परिणाम की कढ़ाई नहीं जड़ाया और जायेगा सो भी तुमसे न्यारा होकर ही

जायेगा । तब कर्तव्य तो यह है कि धन सम्पत्तिविषयक ममता परिणाम न रखकर और उस स्थिति के ज्ञाता द्रष्टा रहकर जो गृहस्थी में है सो वे भी काम करें और अपने अन्तर में मुड़कर अपने अंतरात्मा का भी हित करें । और इस जमाने में तो और भी धनिकता की अस्थिरता है । आज का कल विश्वास नहीं । जिसके पास अभी धन नहीं है वह कहीं ६ महीने में ही कुछ बन जाये और जिसके पास धन है, कहो थोड़ा ही आलस्य रखने पर ६ महीने में ही सारा उसका धन विघट जाये । तो उस बाह्य के उपयोग में क्यों समय गुजारें ? अपने ही हित की प्रमुखता क्यों न रखें ?

वैभव की प्रकृति—चार चोर थे, सो कही से २ लाख का धन चुराकर ले आए । अब रात्रि को तीन बजे एक ठिकाने में बैठ गए । उन्होंने सोचा कि धन तो पीछे बांट लेंगे । पहिले भूख लगी है सो कुछ बना खाकर भूख मिटाएँ । चोर कितना भी धन जोड़ लें तो भी खुश नहीं रहते हैं । मगर जो आदत हो गई उससे वे लाचार रहते हैं । जिन्दगी भर दुःखी ही रहते हैं और अपना दुष्कर्म नहीं छोड़ते हैं । चारों चोरों ने सोचा कि दो जने शहर जावो और वहाँ से बढ़िया मिठाई वगैरह खूब ले आवो, खूब खा लें तब धन का हिस्सा कर लेंगे । दो चोरों को भेजा । अभी तक तो तनिक अच्छे परिणाम रहे—बाद में बाजार गये हुए वे दोनों सोचते हैं क्यों जी, ऐसा करें ना कि मिठाई में विष मिला लें और उन दोनों को खिला देंगे । वे मर जायेंगे तो अपन दोनों को एक-एक लाख मिलेगा । लखपति बन जायेंगे । सो उन दोनों ने तो मिठाई में विष मिलाया, और यहाँ यह दोनों चोरों ने सोचा कि जैसे ही वे दोनों आँ अपन दूर से ही गोली से उड़ा दें, वे मर जायेंगे तो एक-एक लाख अपने को मिलेंगे । सो वे तो विष मिलाकर लाए और ये बन्दूक ताने बैठे । जैसे ही वे दोनों आए शूट कर दिया, गुजर गए । कहो अच्छा रहा, लाख-लाख अपन को मिलेंगे । जो भोजन मिष्टान्न वे दोनों लाये थे सो उठा लिया और प्रेम से खाया खूब छक्कर फिर आनन्द से हिस्सा बांट लेंगे यह सोचा, सो खूब छक्कर मिठाई खा ली, सो वे दोनों बेहोश हो गए, मर गए । सारा धन जहाँ का तहाँ पड़ा रहा ।

ज्ञान का शरण—भैया ! धन वैभव हाथ भी रहता तो भी शान्ति तो नहीं मिलती । शांति ज्ञानबल बिना तीन काल भी सम्भव नहीं है । इस कारण हमारा वास्तविक मित्र है तो सम्यग्ज्ञान मित्र है । अन्य की आशा तजो । दूसरे को मित्र मानो तो जो सम्यग्ज्ञान में सहायक हो इस नाते से मानो और तरह से न मानो । यों तो अनन्त जीव हैं जगत् में, मलिन हैं, कर्मबंधन से दूषित हैं । किस किससे नेह लगावोगे ? क्यों व्यर्थ ही एक दो को ही अपना सर्वस्व मानकर अपना अमूल्य मन जो श्रुतज्ञान की सेवा करके अपना कल्याण कर सकता है ऐसे इस अमूल्य मन को मोही पुरुषों में सौंप रहे हो, सो कुछ तो विचार करो । उन सबके ज्ञाता दृष्टा रहो, अपने हित में प्रमाद मत करो ।

ज्ञान का अतुल विकास और मग्नता—देखो इस सम्यग्ज्ञान के बल से जिनका बंध मिट गया है उनके ऐसा अतुल प्रकाश उत्पन्न हुआ जो प्रकाश नित्य है, स्वभावतः अत्यन्त प्रमुदित है, शुद्ध है, एक ज्ञान करने से ज्ञान ही रस से भरा हुआ जो आनंद का निधान है उसके कारण गम्भीर है, धीर है, शांत है, निराकुल है । ऐसा स्वरूप होता है मुक्त जीवों का । जिनके द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीर तीनों प्रकार के बंधन हट गये हैं

ऐसे पुरुषों का ऐसा निर्मल स्वरूप प्रकट हुआ है, अब वह स्वरूप विभाव कभी भी विचलित नहीं हो सकता। ऐसा अचल होकर उन सिद्ध प्रभु में वह ही प्रकट हुआ है। वह ज्योति वह ज्ञान बढ़ बढ़कर ज्वलित होकर इस अपने आपकी महिमा में समा गया है।

सर्वोच्च देश—इस तरह इस आत्मा की रंगभूमि में बहुत समय से नाटक चल रहा था, कभी यह आस्रव के भेष में, पुण्य पाप के भेष में, बंध के भेष में अपना नृत्य दिखा रहा था, अपने को परिणमा रहा था। तो अब जब ज्ञान उदित हुआ तो संवर और निर्जरा के रूप में यह ज्ञान पात्र प्रकट हुआ और इसके परिणाम में अब यह मोक्ष के भेष में आ गया। अब देखो अशुद्ध भेष को बनाकर यह जीव शुद्ध भेष में आ गया, मुक्त हो गया, फिर भी ज्ञानी जीव की दृष्टि उस मोक्ष के स्वरूप को भी एक भेषरूप में देखती है। है वह शुद्ध भेष, है वह अविनाशी भेष, पर उस भेष से परे और अंतःस्थित इस सर्व विशुद्ध ज्ञानस्वरूप को देखने की दृष्टि वाला है ना ज्ञानी, सो अब वह इस मोक्ष भेष को यों देखता है कि लो यह मुक्ति का भेष है।

निर्देश आत्मतत्त्व—इस ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का और जरासी देर में ही मुक्ति के प्रति अन्तर में और प्रवेश करके जब उनके सनातन ज्ञानस्वरूप को निहारा तो लो अब मोक्ष भेष भी निकल गया, पर इस मोक्ष भेष के निकलने के परिणाम में संसार की ओर न आएँ, किन्तु अनादिअनन्त अहेतुक सनातन ज्ञायकस्वरूप की ओर आएँ। सो अब यह मोक्ष निष्क्रान्त होता है और इसके बाद फिर सर्व विशुद्ध ज्ञान का प्रवेश होता है। यह सर्व विशुद्धज्ञान किसी भेष रूप नहीं है। मोक्ष तक तो भेष है पर इन सातों तत्त्वों के अन्तर में व्यापक शुद्ध स्वरूप का कोई भेष नहीं है। सो अत्यन्त उपादेयभूत मोक्षतत्त्व तक ले जाकर फिर उसके साधकतम उपाय में अर्थात् सर्वविशुद्ध चैतन्यस्वरूप में अब इस ज्ञानी के उपयोग का पुनः प्रवेश होता है।

✽ समयसार प्रवचन बारहवां भाग समाप्त ✽